[illegible]न-काव्य-कलाधर

सङ्कलनकर्त्ता:

बा० गुलाबराय, एम० ए०

प्राध्यापक—सेंट जॉन्स कॉलेज, आगरा।

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल,

पुस्तक-प्रकाशक एवं विक्रेता

नूतन-काव्य-कलाधर

गुलाबराय, एम० ए०,
प्राध्यापक—सेएट जॉंस कॉलिज, आगरा ।

आगरा
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल,
पुस्तक-प्रकाशक एवं विक्रेता

१९५५]

[मूल्य २।)

प्रकाशक :
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल,
पुस्तक प्रकाशक
आगरा ।

१९५५

मुद्रक
दी मॉडर्न प्रेस
नमक मण्डी,
आगरा

प्राक्कथन

मनुष्य-जीवन में साहित्य की अपरिमित महिमा स्वयंसिद्ध ही है। साहित्य-क्षेत्र में पद्य का उच्च स्थान सुविख्यात है। पद्य में युगान्तर उपस्थित करने वाले आर्य कवि अपनी उत्तम कृतियों के कारण अजरामर कीर्ति कौमुदी की कमनीय कान्ति द्वारा देश-देशान्तरों को दैदीप्यमान कर गये हैं एवं अपने उत्तम सदुपदेशों द्वारा मनुष्य-मात्र को सत्पथ प्रदर्शन करने में समर्थ हुए हैं। आधुनिक कवियों में भी अग्रगण्य सर्वमान्य महानुभावों ने अपनी रुचिकर रचनाओं द्वारा हिन्दी भाषा की महिमा को बढ़ाया है, एवं भाषा साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में न्यूनताओं की चिरवांछित पूर्ति करके काव्य-रचना में आदर्श ध्येय का सच्चा अनुपालन किया है। जिन महानुभावों के सद्ग्रन्थों में से इस पुस्तक के अन्तर्गत अंशों के संकलन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता के साथ-साथ अपनी आत्मिक एवं अविचल श्रद्धा का प्रकाशन करना हम अपना परम धर्म एवं अनिवार्य कर्त्तव्य-कार्य समझते हैं। चारु भाषा, उत्तम शैली और रोचक भाव किसके चित्त को आकर्षित नहीं करते? अतएव 'क्षणे क्षणे यन्नवतमुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' का अनुभव करते हुए सब रसों और सब शैलियों से समवेत इन अंशों को विद्यार्थी वर्ग के हितार्थ एकत्र करने का प्रयास किया है।

प्रवेशिका (हाई स्कूल) परीक्षा में बहुत से कवियों के अंशों का साधारण पाठन विद्यार्थियों को भाषा कविता का दिग्दर्शन मात्र कराना है। बी० ए० परीक्षा में कतिपय विशिष्ट कवियों के आदर्श ग्रन्थों का समालोचनात्मक सम्यक ज्ञान उपार्जन कराना आवश्यक हो जाता है। बीच की (इन्टरमीडिएट) श्रेणी में क्रमानुसार दोनों के मध्यवर्ती मार्ग का अनुसरण करना सर्वथा उपादेय ही है। इसी दृष्टिकोण से प्राचीन तथा अर्वाचीन त्रयोदश कवियों की रचनाओं में से यथेष्ट अंशों का यहाँ चयन किया है। भाषा साहित्य में प्रधानता, उपयोगिता आदि को ध्यान में

रखते हुए उन त्रयोदश कवियों को समयानुसार यथोचित स्थान में विराजमान करने की यहाँ चेष्टा की गई है। जिस प्रकार षोडश कलाओं से परिपूर्ण औषधिपति अमृतमय सुधांशु तिमिर का निराकरण करके जन-साधारण को अपनी आह्लादिक शक्ति द्वारा आनन्दकर प्रतीत होता है, वैसे ही मुझे आशा है, इन ज्ञानविज्ञानमय त्रयोदश कवियों के उद्धृत अंशों का यथावत् अध्ययन करने से हमारे विद्यार्थीगण भाषा-क्षेत्र में आलोक पाकर काव्यामृत के रसास्वादन का अनुपम आनन्द उठावेंगे और जैसे हाई स्कूल कोर्स के बहुत से कवियों का अंशतः अध्ययन करके इण्टरमीडिएट में विशिष्ट कवियों का विशेष अध्ययन करने में इस पुस्तिका द्वारा समर्थ होंगे, उसी प्रकार इनमें से छटे और विशिष्ट कवियों के सम्बन्ध में विशद विवेचन करने का उन्हें सुअवसर बी० ए० में प्राप्त हो सकेगा। जिस सद्भावना से यह संग्रह किया गया है, उसके अनुरूप हमारे विद्यार्थी-वर्ग का हित सम्पादन होने में हम अपने परिश्रम को सफल समझेंगे। विज्ञजन त्रुटियों के सम्बन्ध में हमारे सत्पथप्रदर्शक कवि महानुभावों का दोष न मान कर, हमें अपनी क्षमा का पात्र समझ कर, अनुग्रहीत करेंगे, यही हमारा विनम्र निवेदन है।

———

विषय-सूची

———

संत कबीर

कवि परिचय—

कबीर के जन्म के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है :—

चौदह सौ पचपन साल गये, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भये॥
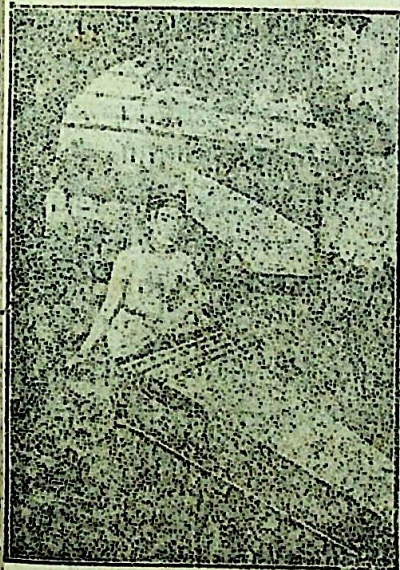
संत कबीर

चौदह सौ पचपन साल गये का अर्थ चौदह सौ पचपन बीतने पर अर्थात् १४५६ लगाया गया है और किसी-किसी ने १४५५ भी लिया है।

मृत्यु-संवत्—

कबीर की मृत्यु के बारे में नीचे लिखा दोहा प्रसिद्ध है :—

संवत् पन्द्रह सै पछत्तरा,
कियौ मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादशी,
रल्यौ पौन में पौन॥

जिसके अनुसार उनका मृत्यु-संवत् १५७५ ठहरता है। इस हिसाब से उनकी आयु १२० वर्ष के लगभग रही होगी। इनका जन्म तो काशी में हुआ था किन्तु ये अपने अक्खड़पन के कारण मगहर में जाकर मरे थे। लोगों का यह विश्वास है कि मगहर में मरने से नरक मिलता है।

क्या काशी क्या ऊसर मगहर, राम हृदय बस मोरा।
जो काशी तन तजै कबीरा, रामै कौन निहोरा॥

कुल-परिवार—

कबीर की जाति के सम्बन्ध में अधिक मतभेद नहीं है। जुलाहे के घ
पालन-पोषण तो सभी लोग मानते हैं, किन्तु उनके जन्म के सम्बन्ध
कुछ लोगों का कथन है कि ये एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से, जिसक
रामानन्दजी ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया था, उत्पन्न हुए थे
कबीर ने अपने को पूर्व जन्म का ब्राह्मण मानते हुए इस का जन्
जुलाहा कहा है:—

काशी का वासी बाँमन, नाम मेरा परबीना।
एक बार हरि नाम बिसारा, पकरि जुलाहा कीना॥

बालक कबीर को कोई लहरतारा तालाब के किनारे छोड़ आया था
जहाँ से नीरू और नीमा नाम के जुलाहे दम्पत्ति उठा लाये थे और इनक
पाला था। रामानन्दजी को कबीरने अपना गुरू बनाया था। "काशी
हम प्रकट भये हैं रामानन्द चेताए।"

कबीर ने यद्यपि नारी को निन्दा की है तथापि विवाह किया था
इनकी स्त्री का नाम लोई था, जिससे इनके एक पुत्र कमाल और ए
पुत्री कमाली उत्पन्न हुए थे।

सिद्धान्त और कवित्व—

कबीर पढ़े लिखे तो थे ही नहीं—'मसि कागद तो छुओ नहीं, कल
गही नहिं हाथ' किन्तु वे बहुश्रुत थे और उन्होंने सत्संग द्वारा बहुत कु
जाना था। उनके सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

१—वे पूर्ण समता भाव को मानते थे। ब्राह्मण और शूद्र उनकी दृ
में एक थे; वे राम और रहीम में भी अन्तर नहीं मानते थे एवं ईश्व
और जीव की एकता में विश्वास करते थे।

२—वे अवतार नहीं मानते थे। वे राम नाम के उपासक थे।

३—वे धर्म के बाहरी आडम्बर में विश्वास नहीं करते थे। तिलक, छापा और माला, जाति-पाँति और छुआछूत उनके लिये कुछ अर्थ नहीं रखते थे।

४—मांसाहार के वे विरुद्ध थे।

५—वे हठयोग के साधनों को मानते थे और अपने ही भीतर सब कुछ देखना चाहते थे।

कबीर की कविता, कविता के लिये नहीं थी वरन् वह प्रचार का एक साधन मात्र थी। उनके हृदय की सचाई के कारण उनकी कविता में बल आ गया था। अलंकारादि स्वाभाविक रूप से कुछ अवश्य आ गये हैं किन्तु उनके लिये उन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया। ईश्वर के वर्णन में उन्होंने रूपकों और अन्योक्तियों से काम लिया है।

कबीर ने दोहे और गाने के पद लिखे हैं। उनके दोहे साखी कहलाते हैं। कबीर की भाषा मिश्रित भाषा है, किन्तु उनमें पूर्वी प्रभाव अधिक है। खड़ी बोली का भी कहीं-कहीं पुट है। शुक्लजी के शब्दों में उसे हम सधुक्कड़ी भाषा कह सकते हैं।

———

संत कबीर

गुरु कीजै दंडवत, कोटि कोटि परनाम।
कीट न जाने भृङ्ग को, गुरु करि आप समान॥
कबिरा ते नर अंध हैं, गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर हैं, गुरु रूठे नहिं ठौर॥
सतगुरु साँचा सूरमा, नख सिख मारा पूरि।
बाहर घाव न दीसई, भीतर चकनाचूरि॥
दीपक दीना तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहना, बहुरि न आई हट्ट॥
लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥
पानी ही तें हिम भया, हिम ही गया बिलाय।
कबिरा जो था सोई भया, अब कछु कहा न जाय॥
ऐसी गति संसार की, ज्यों गाडर की ठाट।
एक पड़ी जेहि गाढ़ में, सबै जाहि तिहि बाट॥
प्रभुता को सब कोउ भजें, प्रभु को भजै न कोय।
कह कबीर प्रभु को भजै, प्रभुता चेरी होय॥
चलौं चलौं सब कोइ कहै, पहुँचे बिरला कोय।
एक कनक औ कामिनी, दुरगम घाटी दोय॥
विद्या-मद औ गुनहुँ-मद, राज मद उनमद्द॥
इतने मद को रद करै, तब पावै अनहद्द॥
सुख का सागर सील है, कोई न पावै थाह।
सब्द बिना साधू नहीं, द्रव्य बिना नहीं साह॥
जो जल बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये, यहि सज्जन को काम॥

गोधन गजधन बाजिधन, और रतनधन खानि।
जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान॥
जा तन जारूँ मसि करूँ, लिखूँ राम को नांव।
लेखनि करूँ करंक की, लिख-लिख राम पठांव॥

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पण्डित हुआ न कोय।
एकै अच्छर प्रेम का, पढ़े सो पण्डित होय॥
ऊँचे कुल का जनमियाँ, करनी ऊँच न होय।
सुबरन कलस सुरा भरा, साधो निन्दा सोय॥

कबिरा घास न निंदिये, जो पावों तर होय।
उड़ि के परै जो आँखि में, खरा दुहेला होय॥
पपीहा पन को ना तजै, तजै तो तन बेकाज।
तन छूटे तो कछु नहीं, पन छूटे है लाज॥

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजों आपना, मुझसा बुरा न कोय॥
केशन कहा बिगारिया, जो मूड़ौ सौ बार।
मन को क्यों नहिं मूड़िये, जामें विसय विकार॥

मन-मुरीद संसार है, गुरु-मुरीद कोइ साध।
जो माने गुरु बचन को, ताको मता अगाध॥
मन सायर मनसा लहरि, बूढ़े बहे अनेक।
यह कबीर ते बाँचि है, जाके हृदय विवेक॥

तन बोहित मन काग है, लख जोजन उड़ि जाय।
कबहीं दरिया अगम बहि, कबहीं गगन समाय॥
मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।
कह कबीर पिउ पाइए, मन ही की परतीत॥

जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहिरे पानी पैठि ।
हौं बौरी ढूँढ़न गई, रही किनारे बैठि ॥
एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय ।
जो तू सेवै मूल को, फूलै फलै अघाय ॥
लघुता ते प्रभुता मिलै, प्रभुता ते प्रभु दूरि ।
चींटी लै शक्कर चली, हाथी के सिर धूरि ॥
कबिरा सीप समुद्र की, खारा जल नहिं लेय ।
पानी पीवै स्वाँति का, सोभा सागर देय ॥
हंसा बक एक रंग लखि, चरैं एक ही ताल ।
छीर नीर ते जानिये, बक उघरै तेहि काल ॥

मेरा तेरा मनुवा कैसे एक होय रे ।
मैं कहता हूँ आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी;
मैं कहता सुरझावनहारी, तू राखा उरझोय रे ॥
मैं कहता तू जागत रहना, तू रहता है सोय रे;
जुगन-जुगन समुझावत हारा, कहा न मानत कोय रे ॥
सतगुरु धारा निरमल बाहै, बामें काया धोय रे;
कहत 'कबीर' सुनो भई साधो, तब ही वैसा होय रे ॥

ना जाने तेरा साहिब कैसा है ?
महजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहिब तेरा बहरा है;
चींटी के पग नेवर बाजै, सो भी साहब सुनता है ।
साँच कहौं तो मारन धावे, झूँठे जग पतियाना;
आतम मारि पषानहिं पूजै, उनमें कछु न ज्ञाना ।
बहुते देखे पीर-औलिया, पढ़ैं किताब कुराना;
कह हिन्दू मोहिं राम पियारा, तुरक कहैं रहमाना ।

हिन्दू तुरक की एक राह है, सतगुर इहै बताई;
कहैं 'कबीर' सुनो हो सन्तो, राम न कहेउ खोदाई ॥

अरे इन दोऊन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करैं बड़ाई, गागर छुवन न देई;
बेस्या के पाँयन तर सोवैं, यह देखो हिन्दुआई।
मुसलमान के पीर-औलिया, मुरगी-मुरगा खाई;
खाला केरी बेटी ब्याहैं, घरहिं में करैं सगाई।
बाहर ते यक मुरगा लाये, धोय-धाय चढ़वाई;
सब सखियाँ मिल जेंवन बैठी, घर भर करै बढ़ाई।
हिन्दुन की हिन्दुआई देखी, तुरकन की तुरकाई;
कहै कबीर सुनो भई साधो, कौन राह ह्वै जाई ॥

कौनौ ठगवा नगरिया लूटल हो।
चंदन-काठ के बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो;
उठौ री सखी, मेरी माँग सँवारौ, दुलहा मोसे रूसल हो।
आय जमराज पलंग चढ़ि बैठे, नैनन आँसू टूटल हो;
चारि जने मिलि खाट उठाइन, चहुँ दिसि धू-धू ऊठल हो।
कहत 'कबीर' सुनौ भई साधो, जग से नाता छूटल हो;

दुलहिनी गाओ मंगलचार, हमारे घर आये राजाराम भरतार।
तन रति कर मैं मन रति करिहौं, पाँचों तत्त्व बराती;
रामदेव मोहिं ब्याहन आये, मैं जोबन-मद-माती।
सररि सरोवर वेंदी करिहौं, ब्रह्मा वेद उचारा;
राम देव संग भाँवरि लैहौं, धन-धन भाग हमारा।
सुर तैंतीसौ कौतुक आए, मुनिवर सहस अठासी;
कहत 'कबीर' मोहि ब्याहि चले हैं, पुरुष एक अविनासी ॥

करम गति टारैं नाहिं टरी।
मुनि वशिष्ठ से पण्डित ज्ञानी, सोधि के लगन धरी;
सीताहरन, मरन दशरथ को, बन में विपति परी।
कहँ वह फँद कहाँ वह पारधि, कहँ वह मिरग चरी;
सीता को हरि लैगो रावन, सुवरन लङ्क जरी।
नीच हाथ हरिचन्द बिकाने, बलि पाताल धरी;
कोटि गाय नित पुन्न करत नृप, गिरगिट-जोनि परी।
पाण्डव जिनके आप सारथी, तिन पर विपति परी;
दुरजोधन को गरब घटायौ, जदु-कुल नास करी।
राहु केत औ भानु चन्द्रमा, विधि संजोग परी;
कहत 'कबीर' सुनो भई साधो, होनी ह्वै कें रही॥

तेहि साहब के लागौ साथा, दुइ कुल मेटिकै होहु सनाथा;
दशरथ कुल अवतरि नहिं आया, नहीं लङ्क के राय सताया।
पृथ्वी रमन दमन नहिं करिया, पैठि पताल नहीं बलि छरिया,
नहिं बलिराय सों मोड़ी रारी, ना हरनाकुस वधल पछारी।
रूप बराह धरनि नहिं धरिया, छत्री मारि निछत्र न करिया;
गंडक सालग्राम न सीला, मच्छ कच्छ ह्वै नहिं जल हीला।
द्वारावती सरीर न छाँड़ा, लै जगनाथ पिंड नहिं गाड़ा।

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरे ही नाँलि सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में वास जल में नलिनी तोर निवास।
ना तलि तपनि न ऊपर आगि, तोर हेत कहु कैसिन लागि।
कहै 'कबीर' जे उदिक समान, ते नहीं मुए हमारे जान॥

———

मलिक मुहम्मद जायसी

कवि परिचय—

कविवर जायसी अवध निवासी थे। इनके जन्म-स्थान आदि अज्ञात हैं। ये जायसनगर में कहीं से आकर बसे थे, जैसा स्वयं कहते हैं—

जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥

जनश्रुति के अनुसार ये गाजीपुरवासी किसी दरिद्र मुसलमान के लड़के थे। बचपन में चेचक के कारण इनकी बाँई आँख एवं बाँया कान जाता रहा। अतः ये कहते हैं—

मुहम्मद बाँई दिसि तजा, इक सरवन इक आँख।

ये निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा में से थे। कहा जाता है कि इनके आशीर्वाद से अमेठी-नरेश को पुत्र-लाभ हुआ। तब से ये सिद्ध समझे जाने लगे। इनकी कब्र राजा ने अपने कोट के सामने बनवाई जो अब भी वर्तमान है।

ग्रन्थ—इनके बनाये हुए तीन ग्रन्थ कहे जाते हैं। पद्मावत, आखिरी कलाम एवं अखरावट। अखरावट में कवि ने अपने साम्प्रदायिक सिद्धांतों को लेकर वर्णमाला क्रम से उनका प्रतिपादन किया है एवं 'पद्मावत' में प्रसिद्ध चित्तौड़ की रानी पद्मिनी की कथा का वर्णन दोहे-चौपाई की शैली में किया गया है। यह एक प्रेमाख्यान है जो फारसी की मसनवी-पद्धति पर लिखा गया है। इसकी कथा सर्गबद्ध न होकर खण्डों में विभक्त है। जैसे प्रेमखण्ड, नागमती खण्ड इत्यादि। इसके आरम्भ में ईश्वर, रसूल, गुरु और शाहेबख्त की बन्दना है। इसमें काल्पनिकता एवं ऐतिहासिकता के साथ आध्यात्मिक तथ्यों का अद्भुत मिश्रण किया गया है। इस कथा का पूर्वार्द्ध कल्पना-प्रधान एवं उत्तरार्द्ध ऐतिहासिकता के आधार पर आधारित है। उस पर भी अपने सम्प्रदाय की पद्धति के अनुसार कवि अपने इस ग्रन्थ को 'जीवन की अन्योक्ति' बतलाना चाहता है,

अतः स्थान-स्थान पर ऐसी सांकेतिक पदावली का प्रयोग किया गया है जो लौकिक सौन्दर्य एवं आनन्द को अनन्त तथा विश्वव्यापिनी विशदता की ओर ले जाती है। ऐसे स्थानों पर जायसी में रहस्यात्मक बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की छाया मिलती है। सिंहलगढ़-वर्णन, पद्मावती नख-शिख, रत्नसेन-पद्मावती मिलाप आदि प्रसंग उनमें मुख्य हैं। शृङ्गार के दोनों पक्षों, सम्भोग एवं विप्रलम्भ में इन्हें पूरी सफलता मिली है। इस पुस्तक में जो नागमती-विरह वर्णित है उनसे निम्नलिखित पदों की तुलना कीजिये तो रात-दिन का अन्तर दिखलाई देगा।

पद्मावती चहत रितु पाई। गगन सुहावन भूमि सुहाई॥
चमक बीजु बरसे जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥
रंगराती प्रीतम संग जागी। गरजे गगन चौंकि गर लागी॥
सीतल बूँद ऊँच चौपारा। हरियर सब देखाइ संसारा॥ आदि

सम्भोग-शृङ्गार में सरसता को बाधा न पहुँचाते हुए अश्लीलता से बचना एक कड़ी कसौटी है। मलिक मुहम्मद न केवल इसमें खरे उतरे हैं किन्तु आत्मा एवं परमात्मा के आध्यात्मिक सम्बन्ध का जो विषद चित्रण करते हैं वह भी इनके सम्भोग एवं विप्रलम्भ दोनों शृङ्गारों में बराबर ध्वनित होता रहता है। अतः ये बड़े प्रतिभावान् थे, इसमें सन्देह नहीं।

इस संग्रह में जो अवतरण दिया गया है वह 'नागमती-विरह' है। जब सिंहल द्वीप में पद्मिनी की खोज में गया हुआ रत्नसेन चिरकाल तक प्रत्यागत नहीं होता है तब नागमती का औत्सुक्य वर्धित होकर चिन्ता का रूप धारण कर लेता है। पतिव्रता की विरह-वेदना का निर्मलतम स्वरूप इतनी मर्मस्पर्शिणी माधुरी के साथ अन्यत्र दुर्लभ है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि कवि ने रानी के विरह वर्णन में भी प्राकृतिक वस्तुओं एवं व्यापारों के साथ मानवीय हृदय के पूर्ण सामञ्जस्य का निर्वाह किया है। रीतिकाल के कवियों की विलासमय संकुचित प्रवृत्ति के अनुसार 'गुलगुली गिलमों' तक ही परिमित

होकर इनकी विरहिणी का हृदय सारे विश्व के व्यापारों के साथ अपनी दशा की तुलना करता है। एक विशेषता विषयानुकूल भाषा का सरल, मृदुल एवं अकृत्रिम प्रवाह भी है। इतना कह चुकने के पश्चात् भी कहना पड़ता है कि नागमती के विरह के वर्णन के सौंदर्य का कारण बहुत कुछ अनिर्वचनीय है।

विप्रलम्भ के उद्दीपन की दृष्टि से प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का दिग्दर्शन सर्वथा संश्लिष्ट हो ही नहीं सकता, किन्तु कतिपय प्राकृतिक दृश्यों के साहचर्य द्वारा कवि-वाणी के प्रभाव से इन वस्तुओं को जो मर्म-स्पर्शी प्रभाव प्राप्त है, उसका अनुभव संकेत मात्र से हो जाता है। बारह मासे में ऐसे अनेक स्थल हैं :—

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा। साज विरह दुन्द दल बाजा॥
धूम, साम, धौरे घन धाये। सेत धुजा बगपाँति दिखाये॥

कवि की भावुकता का पता तो वहाँ चलता है, जब नागमती अपना रानीपन भूल कर किसी असहाय ग्रामीण अबला के समान कह उठती है—

पुष्प नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह मन्दिर को छावा॥
तन तिन उर था झूरौं खरी। भइ बरखा दुख आगरि जरी॥

बिहारी की भाँति विरह के कारण वाह्य परिस्थिति में उन्होंने कम स्थलों में अन्तर किया है। वस्तुओं को जैसा का तैसा रहने दिया है, उनके कारण की उत्प्रेक्षा कर विरह को संसार में व्याप्त दिखाया है। जैसे कौआ काला तो होता ही है, नागमती के विरह के कारण काला बतलाया है। अतः विरह वेदना की कोमलता, सरलता एवं गम्भीरता का जो मनोरम मिश्रण किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है :—

पिउ से कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुंआ हम लाग॥

विरह की अग्नि भड़कने का कारण परिस्थिति-वैषम्य भी होता है दूसरे लोग सब साधनों से युक्त हैं किन्तु हमारे पास कुछ नहीं है, ऐसे विचार वस्तुतः हमारे दुःख को सहस्र गुना कर देते हैं :—

सखिन रचा पिउ संग हिंडोला। हरि हरि रंग बसन्ती चोला।

× × × ×

सखी झुमुक गावैं अंग मोरी। हौं झुराउ बिछुरी मोरी जोरी॥
फाग करहिं सब चाँचरि जोरी। मोहित नगर दीन जस होरी॥

दुःख की दशा में सुखदायक वस्तुएँ भी दुःखदायक हो जाती हैं, स्वभावतः दुःखदायक हैं, उनका तो कहना ही क्या है?

कातिक सरद चन्द उजियारी। जग सीतल हौं बिरहै जारी॥
काँपै हिया जनावै सीऊ। तो पै जाइ होइ संग पीऊ॥

विरह-निवेदन करते समय विरही लोग प्राकृतिक वस्तुओं के सा वाली सादृश्य भावना से अपनी दशा की व्यंजना करते हैं। पद्माकर "गातन की रीति पीरे पातन तैं जानी री" में इसी सादृश्य-भावना कारण कुछ चमत्कार आ गया है। जायसी के विरह-वर्णन में यह गु बड़ी सहृदयता से काम में लाई गई है:—

बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी॥
पुरवा लाग भूमि जल पूरी। आक जवास भई तन धूरी॥

× × × ×

तन जस पियर पात भा मोरा! तेहि पर विरह देहि झकझोरा॥

इस सादृश्य भावना में उपमान सोचने में दूर की सूझ से काम न लिया गया है। इन वर्णनों में व्यक्ति और उसके वातावरण में साम्य जाता है। अतः ऐसी उक्तियाँ बड़ी मनोमुग्धकारिणी होती हैं।

इसके साथ ही विप्रलम्भ के संचारी भावों का भी कहीं-कहीं अत्य उत्कृष्ट दिग्दर्शन कराया गया है। अभिलाषा का निम्न रूप ही देखि कितना हृदयस्पर्शी है:—

यह तन जारैं छारि कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कन्त धरैं जहँ पाँव॥

जायसी की भाषा—

मलिक मुहम्मद की भाषा में ग्रामीण अवधी का सौन्दर्य देखते

बनता है। गोस्वामी तुलसीदास की अवधी के समान इनकी अवधी संस्कृत-मिश्रित नहीं है। इस कारण जो लोग अवधी बोली के ठेठ रूप से परिचित नहीं हैं, उनके लिये इस ग्रन्थ के अनेक स्थल सन्दिग्ध ही रहेंगे। ऐसे स्थानों पर पाठान्तर करना या किसी प्रकार अपनी विद्वत्ता का प्रयोग करना बेचारे जायसी की आत्मा को दुःख पहुँचाना है। पं० पद्मसिंह शर्मा कहा करते थे कि "हे आलोचक गण ! कृपया काँट-छाँट करते समय इस बात का ध्यान रखो कि कहीं रग पर नश्तर न लग जाय" यही बात जायसी के टीकाकारों से नम्रतापूर्वक कही जा सकती है।

सारांश यह है कि जायसी या किसी भी प्राचीन कवि का अध्ययन करते समय पर्याप्त धैर्य की आवश्यकता है। जायसी का ज्ञान विस्तृत था। ये पण्डित, भावुक एवं बहुश्रुत थे। अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग, दिनिअर, ससहर, अहइ, पुहुमी, भुआल जैसे ठेठ प्राकृत शब्दों के साथ ही पुरानी विभक्तियों का प्रयोग यह बतलाता है कि इन्होंने काव्य की रीति का किसी भाषा-पण्डित से अध्ययन अवश्य किया होगा।

कैलाश को स्वर्ग के अर्थ में प्रयोग करना और उसे इन्द्र का घर बताना, महादेव के साथ हनुमान को सेवक रूप से साथ कर देना, चन्द्र को स्त्रीलिंग में लिखना आदि अकाट्य प्रमाणों से यह मानना पड़ेगा कि संस्कृत-साहित्य एवं हिन्दू पौराणिक कथाओं से ये अनभिज्ञ थे। छन्दशास्त्र में भी इनका अधिक प्रवेश नहीं था, किन्तु ज्योतिष, भूगोल एवं तत्कालीन इतिहास का ज्ञान बहुत कुछ पूर्ण था, ऐसा अवश्य मानना पड़ेगा। अनेक स्थानों पर ये वस्त्र, घोड़े, भोजनादि की नामावली गिनाते चले गये हैं। 'सूदन' ने भी ऐसा ही किया है। रुचि-वैचित्र्य ही तो है। इसमें जायसी का व्यापक ज्ञान (General Knowledge) तो अवश्य सूचित हो जाता है चाहे वह काव्य के अनुपयुक्त ही क्यों न हो। कुछ पोथियों में ९२७ हि० सन् पद्मावत का निर्माण-काल दिया गया है, किन्तु नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण में सन् ९४७ (संवत् १५९७) दिया है। यही अधिक संगत मालूम देता है क्योंकि सन् ९२७ में इब्राहीम लोदी राज्य करता था, सन् ९४७ में शेरशाह राज्य करता था।

पद्मावत—(नागमती वियोग)

चौपाई।

नागमती चितउर-पथ हेरा। पिउ जो गये पुनि कीन्ह न फेरा॥
नागर काहु नारि बस परा। तइ मोमोर पिय मोसौं हरा॥
सुआ काल होइ लेइगा पीऊ। पिउ नहि जात, जात नहीं जीऊ॥
भयउ नरायन बावन करा। राज करत राजा बलि छरा॥
करन पास लीन्हेउ कै छुन्दू। बिप्र रूप धरि झिलमिल इंदू॥
मानत भोग गोपिचन्द भोगी। लेइ अपसवां जलंधर जोगी॥
लेइगा कृस्णहि गरुड़ अलोपी। कठिन बिछोह, जिअहि किमि गोपी॥

दोहा—सारस जोरी कौन हरि, मारि बियाधा लीन्ह।
झुरि-झुरि पींजरि हौं भई, बिरह काल मोहि दीन्ह॥

चौपाई।

पिउ वियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा निति बोलै 'पिउ पीऊ'॥
अधिक काम दाधै सो रामा। हरि लेइ सुवा गयउ पिउ नामा॥
बिरह बान तस लाग न डोली। रकत पसीज, भीजि गई चोली॥
सूखा हिया हार भा भारी। हरि हरि प्रान तजहिं सब नारी॥
खन एक आव पेट महँ साँसा। खनहि जाइ जिउ, होइ निरासा॥
पवन डोलावहिं सीचहि चोला। पहर एक समुझहिं मुख बोला॥
प्रान पयान होत को राखा। को सुनाव पीतम कै भाषा॥

दोहा—आहि जो मारै बिरह कै, आगि उठै तेहि लागि।
हंस जो रहा सरीर मह, पाँख जरा, गा भागि॥

चौपाई।

पाट-महादेइ हिये न हारू। समुझि जीव चित चेत सँभारू॥
भौंर कँवल संग होइ मेरावा। सँवरि नेह मालति पहँ आवा॥
पपिहे स्वाती सौं जस प्रीती। टेकु पियास, बाँधु मन थीती॥
धरतिहि जैसे गगन सौं नेहा। पलटि आव बरषा रितु मेहा॥

पुनि बसन्त रितु आव नवेली। सो रस, सो मधुकर, सो बेली॥
जिनि अस जीव करसि तू बारी। यह तरिवर पुनि उठिहि सँवारी॥
दिन दस बिनु जल सूखि बिधंसा। पुन सोइ सरवर, सोई हंसा॥

दोहा—मिलहिं जो बिछुरे साजन, अङ्कम भेंट गहंत।
तपन मृगसिरा जे सहैं, ते अद्रा पलुहंत॥

चौपाई।

चढ़ा असाढ़, गगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा॥
धूम, साम, धौरे घन धाए। सेत धुजा बग-पाँति देखाए॥
खड़ग-बीजु चमकै चहुँ ओरा। बुंद-बान बरसहिं घन घोरा॥
ओनई घटा आइ चहुँ फेरी। कंत उबारु मदन हौं घेरी॥
दादुर मोर कोकिला पीऊ। गिरै बीजु, घट रहै न जीऊ॥
पुष्प नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नांह मन्दिर को छावा?
अद्रा लाग, लागि भुँइ लेई। मोहिं बिनु पिउ को आदर देई?

दोहा—जिन्ह घर कंता ते सुखी, तिन्ह गारौ औ गर्व।
कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्व॥

चौपाई।

पावस बरस मेंह अति पानी। भरनि परी, हौं बिरह झुरानी॥
लाग पुनरबसु पीउ न देखा। भइ बाउरि, कहँ कंत सरेखा॥
रकत के आँसु परहिं भुँइ टूटी। रेंगि चली जस बीरबहूटी॥
सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियरि भूमि, कुसुंभी चोला॥
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा। बिरह झुलाइ देइ झकझोरा॥
बाट असूझ अथाह गंभीरी। जिउ बाउर भा फिरै भँभारी॥
जग जल बूढ़ जहाँ लगि ताकी। मोरि नाउ खेवट बिनु थाकी॥

दोहा—परवत समुंद अगम बिच, बीहड़ घन बन ढांख।
किमि कै भेटौं कंत तुम्ह, ना मोहि पाँव न पाँख?॥

चौपाई।

भा भादों दूभर अति भारी। कैसे फिरौं रैनि अँधियारी॥
मन्दिर सून पिउ अनतै बसा। सेज नागिनी फिर-फिर डसा॥
रहौं अकेलि गहें एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी॥
चमक बीजु, घन घरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा॥
बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोरि दुइ नैन चुवै जस ओरी॥
धनि सूखै भरे भादौं माहां। अबहुँ न आएहि सीचेहि नाहां॥
पुरवा लाग भूमि जल पूरी। आक जवास भई तस झूरी॥

दोहा—थल जल भरे अपूर सब, धरति गगन मिलि एक।
धनि जोवन अवगाह महँ, दे बूड़त, पिउ, टेक॥

चौपाई।

लाग कुँवार नीर जग घटा। अबहूँ आउ, कंत, तन लटा॥
तोहि देखे, पिय, पलुहै कया। उतरा चित बहुरि करु मया॥
चित्रा मित्र मीन कर आवा। पपिहा पीउ पुकारत पावा॥
उआ अगस्त, हस्ति-घन गाजा। तुरय पलानि चढ़े रन राजा॥
स्वांत-बूँद चातक मुख परे। समुद्र सीप मोती सब भरे॥
सरवर संवरि हंस चलि आए। सारस कुरलहिं, खंजन देखाए॥
भा परगास, काँस बन फूले। कंत न फिरे, बिदेसहि भूले॥

दोहा—बिरह हस्ति तन सालै, घाय करै चित चूर।
बेगि आइ, पिउ, बाजहु, गाजहु होइ सदूर॥

चौपाई।

कातिक सरद-चन्द उजियारी। जग सीतल, हौं बिरहै जारी॥
चौदह करा चाँद परगासा। जनहुँ जरै सब धरति अकासा॥
तन मन सेज करै अगिदाहू। सब कहँ चन्द भयउ मोहि राहू॥
चहूँ खंड लागै अँधियारा। जो घर नाहीं कन्त पियारा॥

अबहूँ, निठुर, आउ एहि बारा। परब देवारी होइ संसारा॥
सखि झूमक गावैं अङ्ग मोरी। हौं झुराँव, बिछुरी मोरि जोरी॥
जेहि घर पिउ सो मनोरथ पूजा। मो कहँ बिरह, सवति दुख दूजा॥

दोहा—सखि मानैं तिउहार सब, गाइ देवारी खेलि।
हौं का गावौं कन्त बिनु, रहीं छार सिर मेलि॥

चौपाई।

अगहन दिवस घटा, निस बाढ़ी। दूभर रैनि, जाइ किमि गाढ़ी॥
अब धनि बिरह दिवस भा राती। जरौं बिरह जस दीपक बाती॥
काँपै हिया जनावै सीऊ। तौ पै जाइ होइ संग पीऊ॥
घर घर चीर रचे सब काहू। मोर रूप रंग लेइगा नाहू॥
पलटि न बहुरा गा जा बिछोई। अबहूँ फिरै, फिरै रंग सोई॥
बज्र अगिनि बिरहिनि हिय जारा। सुलुगि सुलुगि दगधै होइ छारा॥
यह दुख दगध न जानैं कंतू। जोबन जनम करै भसमंतू॥

दोहा—पिउ सों कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा, हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुआँ हम लाग॥

चौपाई।

पूस जाड़ थर थर तन काँपा। सुरुज जाइ लंका-दिसि चाँपा॥
बिरह बाढ़, दारुन भा सीऊ। काँप कँपि मरौं, लेइ हरि जीऊ॥
कंत कहाँ, लागौं ओहि हियरे। पंथ अपार, सूझि नहिं नियरे॥
सौंर सपेति आवै जूड़ी। जानहु सेज हिवंचल बूड़ी॥
चकई निसि बिछुरै, दिन मिला। हौं दिन-राति बिरहा कोकिला॥
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी। कैसे जियै बिछोही पखी॥
बिरह सचान भयउ तन जाड़ा। जियत खाइ औ मुए न छाँड़ा॥

दोहा—रकत ढुरा माँसू गरा, हाड़ भयउ सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई, पिउ समेटहि पंख॥

२

चौपाई।

लागेउ माघ, परै अब पाला। बिरहा काल भयउ जड़ काला।
पहल पहल तन रुई झाँपै। हहरि हहरि अधिको हिय काँपै।
आइ सूर होइ तपु, रे नाहा। तोहि बिनु जाड़ न छूटै माहा।
एहि माहँ उपजै रस मूलू। तूँ सो भौंर, मोर जोबन फूलू।
नैन चुवहिं जस महवट नीरू। तोहि बिनु अङ्ग लाग सर-चीरू।
टप टप बूँद परहिं जस ओला। बिरह पवन होइ मारै झोला।
केहि क सिंगार, के पहिरु पटोरा। गीउ न हार, रही होइ डोरा।

दोहा—तुम बिनु काँपै धनि हिया, तन तिनउर भा डोल।
तेहि पर बिरह जराइ कै, चहै उड़ावा झोल॥

चौपाई।

फागुन पवन झकोरा बहा। चौगुन सीउ जाइ नहिं सहा।
तन जस पियर पात भा मोरा। तेहि पर बिरह देइ झकझोरा।
तरिवर झरहिं, झरहिं बन ढाका। भई ओनंत फूलि फरि साखा।
करहिं बनसपति हिये हुलासू। मो कहँ भा जग दून उदासू।
फागु करहिं सब चाँचरि जोरी। मोहि तन लाइ दीन्हि जस होरी।
जौ पै पिउ जरत अस पावा। जरत मरत माहिं रोष न आवा।
राति-दिवस बस यह जिउ मोरे। लगौं निहोर कन्त अब तोरे।

दोहा—यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन, उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कन्त धरै जहँ पाँव॥

चौपाई।

चैत बसंता होइ धमारी। मोहि लेखे संसार उजारी।
पंचम बिरह पंच सर मारै। रकत रोइ सगरौं बन ढारै।
बूड़ि उठे सब तरुवर-पाता। भीजि मजीठ, टेसु बन राता।
बौरे आम फरै अब लागे। अबहू आउ घर कन्त सभागे।

सहस भाव फूलीं बनसपती। मधुकर घूमहिं सँवरि मालती॥
मो कहँ फूल भये सब काँटे। दृष्टि परत जस लागहिं चाँटे॥
फरि जोवन भए नारंग साखा। सुआ-विरह अब जाइ न राखा॥

दोहा—घिरिनि परेवा होय पिउ, आउ वेगि परु टूटि।
नारि पराये हाथ है, तोहि बिनु पाउ न छूटि॥

चौपाई।

भा बैसाख तपनि अति लागी। चोआ चीर चन्दन भा आगी॥
सूरुज जरत हिवंचल ताका। बिरह-बजागि सौंह रथ हाँका॥
जरत बजागिनि करु पिउ छाहाँ। आइ बुझाउ अङ्गारन्ह माहाँ॥
तोहि दरसन होइ सीतल नारी। आइ आगि तें करु फुलबारी॥
लागिउँ जरै, जरै जग भारू। फिर फिर भूँजेसि, तजिउँ न बारू॥
सरवर-हिया घटत नित जाई। टूक टूक होइ कै बिहराई॥
बिहरत हिया करहु पिय टेका। दीठि दवंगरा मेरवहु एका॥

दोहा—कवल जो बिगसा मानसर, बिन जल गयउ सुखाइ॥
कबहुँ बेलि फिरि पलुहै, जौ पिउ सींचै आइ॥

चौपाई।

जेठ जरै जग चलै लुवारा। उठहि बबंडर, परहिं अङ्गारा॥
बिरह गाजि हनुवंत होइ जागा। लंका दाह करै तनु लागा॥
चारिहुँ पवन झकोरै आगी। लंका दाहि पलंका लागी॥
दहि भई साम नदी कालिंदी। बिरह आगि कठिन अति मंदी॥
उठै आगि औ आवै आँधी। नैन न सूझ मरौं दुख बाँधी॥
अधजर भइउँ, मांसु तन सूखा। लागेउ बिरह काल होई भूखा॥
मांसु खाइ, अब हाड़न्ह लागै। अबहुँ आउ, आवत सुनि भागै॥

दोहा—गिरि, समुद्र, ससि, मेघ, रवि, सहि न सकहिं वह आगि।
मुहमद सती सराहिए, जरै जो अस पिय लागि॥

चौपाई।

तपै लागि अब जेठ असाढ़ी। मोहि पिउ बिनु छाजनि भई गाढ़ी
तन तिनउर भा झूरौं खरी। भई बरषा दुख आगर जरी
बंध नाहिं औ कंध न कोई। बात न आव कहौं का रोई
साँठि नाठि, जग बात को पूछा? बिनु जिय फिर मूँज तनु छूँछा
भई दुहेली टेक बिहूनी। थाँभ नाहिं उठि सकै न थूनी
बरसै मेह, चुवहिं नैनाहा। छपर छपर होइ रहि बिनु नाहा
कोरौं कहाँ ठाट नव साजा। तुम बिनु कन्त न छाजनि छाजा

दोहा—अबहुँ भया-दिस्टि करि, नाह निठुर, घर आउ।
मन्दिर उजार होत है, नव कै आइ बसाउ॥

महात्मा सूरदास

कवि परिचय—

महात्मा सूरदासजी का समय संवत् १५४० से १६२० वि० ठहरता था। चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार इनकी जन्मभूमि रुनकता नामक गाँव है, जो मथुरा और आगरा के बीच में है। सोही ग्राम (दिल्ली के पास) को भी कतिपय लोग इनकी जन्मभूमि मानते हैं। आपने सारस्वत ब्राह्मण जाति को अपने जन्म से पवित्र किया था। इनके पिता रामदास ने आठ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत संस्कार कराया। सूरदास की साहित्य लहरी (जिसमें उनके दृष्टिकूट संगृहीत हैं) के एक पद के अनुसार ये 'ब्रह्म-भट्ट एवं चन्द्र बरदाई' के वंशज कहे जाते हैं। इनके छः भाई मुसलमानों द्वारा मारे गये थे। सात दिन तक एक कुएँ में गिरे रहने पर अन्धे सूरदास को एक दिन भगवान के दर्शन हुए—इत्यादि बातें उस पद में लिखी हैं। जो कुछ भी हो, पर्याप्त प्रमाणों के अभाव से उक्त टीका को विश्वस्त नहीं माना जा सकता।

चौरासी वैष्णवन की वार्ता और भक्तमाल के अनुसार गऊ घाट पर सूरदासजी गोस्वामी बन कर रहा करते थे। श्री वल्लभाचार्यजी के वहाँ आने पर उनसे प्रभावित होकर ये उनके शिष्य हो गये। श्रीमद्भागवत की कथा को आचार्यजी के आदेशानुसार ही इन्होंने भाषा में स्वतन्त्र रूप से छन्दोबद्ध किया। वह ग्रन्थ 'सूरसागर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसमें सवा लाख पद कहे जाते हैं। ५ या ६ हजार पद से अधिक अब प्राप्य नहीं हैं। सूर की उपासना सख्य भाव की थी। ये उद्धव के अवतार कहे जाते हैं। 'पारासोली' नामक ग्राम में इन्होंने अपना अन्तिम समय बिताया। इनका अन्तिम पद यह कहा जाता है—

खञ्जन नैन रूप रस माते।
अतिसय चारु चपल अनियारे, पल-पिंजरा न समाते॥ आदि।

इनके लिखे हुए निम्नलिखित ग्रन्थ कहे जाते हैं—
(१) सूरसागर (२) सूरसारावली (३) साहित्य लह

महात्मा सूरदास

(४) ब्याहलो (५) नल-दमयन्ती (६) पदसंग्रह (७) नागलीला

इनमें से केवल पहले तीन प्राप्त हैं। दूसरा ग्रन्थ पहले की सूची मात्र है, अतः सूरसागर पर ही सूरदास की कीर्ति आधारित है। इस ग्रन्थ में भगवान श्रीकृष्ण के चरित्र को गाया गया है। यह ध्यान में रखना चाहिये कि कृष्ण-भक्त सम्प्रदाय ने भगवान के उस लोक-रक्षक एवं धर्म-संस्थापक रूप की उपेक्षा कर दी जो गीता या महाभारत के कृष्ण के रूप में दृष्टि-गोचर होता है। गोकुल एवं वृन्दावन के लोक-मनोमुग्धकारी रूप में ही भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन कर सूर साहित्य में हम अपना मन-बहलाव कर सकते हैं। सूर-साहित्य में एक से एक उत्तम रत्न भरे पड़े हैं। विशेषतः पाँच रत्न स्पष्ट रूपेण देदीप्यमान हैं—विनय, बालकृष्ण, रूपमाधुरी, मुरली माधुरी एवं भ्रमरगीत। इनमें से रूपमाधुरी और मुरली माधुरी को अलग-अलग करने का श्रेय लाला भगवानदीन को है। यदि देखा जाय तो ये दोनों संयोग-शृङ्गार-पक्ष के आलम्बन और उद्दीपन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं।

सूर की भाषा ब्रजभाषा है। कारण यह है कि ब्रजभाषा में कतिपय ऐसा साहित्यिक गुण है, जो उसे कविता के लिये उपयोगी सिद्ध करने में सहायक है। स्निग्धता, सरसता एवं धारावाहिकता के लिये तो ब्रज की यह कथा ही पर्याप्त है, जिसके अनुसार एक पाँच वर्षीय बालिका भी अपनी माता के पीछे दौड़ती हुई कहती है—"माय री माय साँकरी गली में मोरे पायन में काँकरी गरति जाति हैं।" जो लचीलापन एवं मसृणता ब्रजभाषा में स्वाभाविक है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी कारण यथेच्छा घुमाने-फिराने से भी हानि पहुँचने की सम्भावना नहीं। नीरसता और क्लिष्टता तो आ ही कैसे सकती है? सूरजी जैसे भक्त-शिरोमणि कवियों ने ब्रजभाषा के मनोगत भावों के प्रकाशित करने के लिए उपयुक्त शब्दावली एवं शक्ति का भी संचय कर लिया था। भाव-व्यंजकता, स्निग्धता एवं सारल्य-सिद्धान्त के अनुसार प्रायः संयुक्ताक्षरों की अपेक्षाकृत कमी और कोमल वर्णों के प्राचुर्य के कारण ब्रजभाषा कविता के लिए अत्यंत उपयुक्त

है। सूर की व्रजभाषा में उपर्युक्त सब गुण बड़े परिमाण में उपलब्ध होते हैं। फारसी, पंजाबी आदि शब्दों का भी यत्र-तत्र प्रयोग मिल जाता है। बहुधा साधारण बोल-चाल के शब्दों (जैसे 'मुँह चाही', 'मैट', 'सथिया') के द्वारा ऐसी भावव्यंजना हो जाती है, जो तत्सम शब्द द्वारा नहीं हो सकती। ऐसे स्थलों पर सूर ने बोलचाल के शब्दों का ही प्रयोग किया है। तुकान्त के लिये शब्दों में किंचित् परिवर्तन करना भी बुरा नहीं मानते थे [जैसे, "भँवारे" (भ्रमर), "खाँधो" (खाया)]।

तुलसी जैसी 'चुस्ती' तो इनकी भाषा में नहीं है। जु, सु का प्रयोग भी कहीं-कहीं निरर्थक है। वाक्य-विन्यास की भी कहीं-कहीं गड़बड़ हो गई है। तो भी इतना मानना पड़ेगा कि ये निरंकुश नहीं थे। व्याकरण की सीमा का अतिक्रमण इन्होंने बहुत थोड़ा किया है।

इनकी कविता में सत्काव्य के सभी गुण पाये जाते हैं। रस, ध्वनि, अलंकार, गुण, लक्षण-व्यञ्जना आदि काव्य के अङ्ग पूर्णोत्कर्ष के साथ प्राप्त हो सकते हैं। उक्ति-वैचित्र्य भी कम नहीं है।

सूर के इष्ट विश्वविमोहन, लीलापुरुषोत्तम भगवान कृष्ण हैं। अतः यद्यपि वे लौकिक रूप में प्रकट होते हैं, तथापि उनमें असीम आनन्द की आभा खेलती रहती है। उसी अव्यक्त ब्रह्म का, जिसकी "अविगत गति कहने में नहीं आती, जब व्यक्त रूप संसार में अवतीर्ण होता है तब उसमें आत्मोत्सर्गपूर्ण लोकोत्तर आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति पाई जाती है। सूर के बालकृष्ण में परमात्मा के इसी रूप का वर्णन है। बालकों की अन्तः प्रकृति का अध्ययन भी सूर के बराबर अन्यत्र नहीं पाया जाता है। अपनी चोटी बढ़ाने की महत्वाकांक्षा, बलराम के द्वारा मोल लिये हुए कहे जाने पर रोष, गोपियों के यहाँ से माखन चुरा कर चींटियाँ निकालने के बहाने से बचने का प्रयत्न करना आदि व्रजवल्लभ के व्यापारों एवं हार्दिक तत्वों का 'सूर' ने इतना बढ़िया चित्रण किया है कि देखते ही बनता है। इन बाल-लीलाओं में कहीं-कहीं अलौकिकता की छाप मिलती है, जिसे देख

कर कतिपय आलोचक चौंकते हैं; परन्तु सूर पहले ही कह चुके हैं कि उनका बालकपन अलौकिक है।

विनय के पदों में सूर तुलसी के साथ विनयपत्रिका में समकक्ष भूमि पर खड़े हो जाते हैं। सूर की उपासना सख्य-भाव की थी, अतः केवल कुछ अंशों में तुलसी की शैली से भेद हो सकता है और वह भेद सम्बोधन, उसके प्रकार एवं विषय-प्रतिपादन के ढङ्ग में ही है। सूर के पास तकल्लुफ नहीं है, वे तो खरी-खरी सुनाते हैं। सूर को इस भूमि पर कभी-कभी ही तुलसी के दर्शन होते हैं। किन्तु सूर अपने को 'सब पतितन को नायक' कहने में भी संकोच नहीं करते हैं। विद्वानों का मत है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य की शरण में आने से पूर्व सूर ने दीनता के पद गाये।

इसके बाद सूर के शृंगार पर आइये। संयोग एवं विप्रलम्भ दोनों पक्षों में सूर की रचनाएँ उत्कृष्ट हैं। संयोग पक्ष में प्रेम का क्रमिक विकास, जो साहचर्य और रूप-सौन्दर्य पर आश्रित है, बहुत अच्छा वर्णन है—

(बूझत स्याम कौन तू गोरी—आदि पद देखो)

शृङ्गार के आलम्बन के रूप में भगवान की रूपमाधुरी का, उनके नखशिख का सूर ने अनुपम वर्णन किया है। इसकी सरसता का विश्लेषण करना इस जड़ लेखनी की सामर्थ्य से सर्वथा बाहर की बात है। केवल यही कहना पड़ता है "देखत बने कहत रसना सो सूर विलोकत और.।" इस संग्रह में दिये गये पद्य ही सूर की अलौकिक प्रतिभा का परिचय दे देंगे। इसके पश्चात् मुरलीमाधुरी का वर्णन लीजिये। मुरली को गोपियों की ईर्ष्या का आलम्बन बनाया गया है। यहाँ पर मनोवैज्ञानिक सत्य तो प्रकाश में आता ही है कि प्रेम-पात्र यह सहन नहीं कर सकता कि आराध्य किसी दूसरे से प्रेम करे। उसकी असहनीयता तब बढ़ जाती है जब नया प्रेम-पात्र घमण्ड से पुराने प्रेम-पात्र का निरादर करता है—

(मुरली तऊ गुपालहिं भावति—इत्यादि पद)

उनका 'भ्रमर गीत' सुन्दर उपालम्भ काव्य है। निर्गुण ज्ञान भक्तों के भावुक-हृदय को सन्तुष्ट नहीं कर सकता—इस मत का बड़े सुन्दर ढङ्ग से इसमें पतिपादन किया गया है। 'भक्ति विरोधी ज्ञान' का खण्डन बड़ी चमत्कृत चातुरी से किया गया है। सारे ब्रह्माण्ड में ढूँढ़ने से भी न मिलने वाले ब्रह्म को आँख मूँद कर भृकुटी के बीच में देखने सम्बन्धी कल्पना की बड़े अनूठे ढङ्ग से हँसी उड़ाई गई है। इन सब में वक्रोक्ति एवं व्यंग्य का अनुपम चमत्कार है। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि यह भी कहीं नहीं कहा गया कि निर्गुणोपासना बुरी है। केवल सर्व साधारण के लिये उसकी अनुपयुक्तता का बड़े मर्मस्पर्शी ढङ्ग से प्रतिपादन किया गया है।

सूर और तुलसी—

"सूर सूर तुलसी शशी उड़गन केशवदास" एक पुरानी लोकोक्ति है। कदाचित यह अनुप्रास के लोभ से कही गई हो। परन्तु यह प्रवृत्ति ठीक नहीं। इन तीनों महाकवियों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है तथा अपने-अपने क्षेत्र में सब अद्वितीय हैं। विद्वान आचार्य के रूप में केशव हिन्दी के लिए गर्व के पात्र हैं। तुलसी की व्यापक प्रतिभा एवं लोक-कल्याण कारिणी शक्ति सारे जीवन को स्पर्श करती हुई चलती है। वात्सल्य एवं शृङ्गार में सूर अद्वितीय हैं। केशव में कला-पक्ष प्रधान एवं हृदय-पक्ष प्रायः शून्य-सा है। सूर तथा तुलसी में दोनों का उपयुक्त सामंजस्य है। तुलसी का मर्यादावाद उन्हें सूर से कुछ ऊँची भूमि पर उठा देता है। विभिन्न शैलियों, भाषाओं, जीवन की अनेक अवस्थाओं एवं उपयोगवादिता की विशेषता जैसे कारणों से तुलसी की विशेष महत्ता को सादर स्वीकार करते हुए भी सूरदास की प्रतिभा के आगे सिर झुकाना पड़ता है। सूर का संयोग शृङ्गार कहीं-कहीं अनावृत्त अवश्य हो गया है; किन्तु उच्छृङ्खल नहीं। वात्सल्य की तो सभी उक्तियाँ सूर की झूठन-सी मालूम होती हैं। एक शैली में सही, किन्तु इतनी अधिक साहित्य-रचना करने वाला मस्तिष्क अवश्य अभिनन्दनीय था।

विनय

अपनी भक्ति दे भगवान ।
कोटि लालच जो दिखावहु नाहिनै रुचि आन ॥
जरत ज्वाला, गिरत गिरि ते, स्वकर काटत सीस ।
देखि साहस सकुच मानत राखि सकत न ईस ॥
कामना करि कोपि कबहूँ करत कर पसु घात ।
सिंह सायक जात गृह तजि इन्द्र अधिक डरात ॥
जा दिन तैं जनमु पायौ यहै मेरी रीति ।
विषय विष हठि खात नाहीं डरत करत अनीति ॥
थके किंकर जूथ जम के टारे टरत न नेक ।
नरक कूपनि जाइ जमपुर पर्यौ बार अनेक ॥
महा माचल मारिबे की सकुच नाहिन मोहिं ।
परयौ हौं पन किये द्वारे लाज पन की तोहिं ॥
नाहिनै काँचो कृपानिधि करौ कहा रिसाइ ।
'सूर' तबहुँ न द्वार छाँड़ै डारिहो कढ़राइ ॥

अब हौं नाच्यौ बहुत गोपाल ।
काम-क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल ॥
महा मोह के नूपुर बाजत, निन्दा शब्द रसाल ।
भरम भरो मन भयो पखावज, चलत कुसंगति चाल ॥
तृसना नाद करति घट भीतर, नाना विधि दै ताल ।
माया को कटि फेंटा बाँध्यो, लोभ तिलक दियो भाल ॥
कोटिक कला काछि दिखराई,जल थल सुधि नहिं काल ।
'सरदास' की सबै अविद्या, दूरि करहु नन्दलाल ॥

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगेहि मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जाने जो पावै॥
रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालम्ब मन चक्रत धावै।
सब बिधि अगम विचारहिं तातैं 'सूर' सगुन लीलापद गावैं॥

ऐसे प्रभू अनाथ के स्वामी।
कहियत दीन दास पर-पीरक सब घट अन्तरजामी॥
करत विवस्त्र द्रुपद-तनया को 'सरन' शब्द कहि आयो।
पूर्ण अनन्त कोटि परिबसननि अरि को गरब गँवायो॥
सुत हित विप्र, कीर हित गनिका, परमारथ प्रभु पायो।
छन चिंतवन साँप संकट ते गज ग्राह ते छुड़ायो॥
तब तब पद न देखि अविगत को जन लगि वेष बनायो।
जो जन दुखी जानि भये ते रिपु हति हति सुख उपजाओ॥
तुम्हरि कृपा जदुनाथ गुसाँई किहि न आसु सुख पायो।
'सूरदास' अन्ध अपराधी सो काहे विसरायो॥

और न जाने जन की पीर।
जब जब दीन दुखित भये, तब तब कृपा करी बल-वीर॥
गज बलहीन बिलोकि चहूँ दिसि तब हरि सरन परो।
करुना-सिन्धु दयाल दरस दै सब संताप हरो॥
मागध मथो, हरो नृप बन्धन, मृतक विप्र सुत दीनो।
गोपी गाय गोपसुत लगि प्रभु, सात द्यौस गिरि लीनो॥

श्रीनृसिंह वपु धारि असुर हति भगत बचन प्रतिपारो।
सुमिरत नाम द्रुपद-तनया कहँ पट समूह तन धारो॥
मुनि मद मेटि दास व्रत राख्यो अम्बरीष हितकारी।
लाखागृह में शत्रु सैन ते पाण्डव विपति निवारी॥
बरुनपास व्रजपात मुकराये दावानल दुख टारो।
श्री वसुदेव देवकी के हित कंस महा खल मारो॥
सोइ श्रीपति जुग जुग सुमिरन बस वेद विसद जस गावै।
असरन सरन 'सूर' जाँचत है कोऊ सुरत करावै॥

कबहुँ नाहिन गहरु कियो।
सदा सुभाव सुलभ सुमिरन बस भगतनि अभय दियो॥
गाय गोप गोपीजन कारन, गिरि कर-कमल लियो।
अघ अरिष्ट केसी काली मथि, दावा अनल पियो॥
कंस वंस बधि, जरासंध हति, गुरुसुत आनि दियो।
करषत सभा द्रुपद-तनया को अम्बर आनि छियो॥
'सूर' स्याम सरवज्ञ कृपानिधि करुना-मृदुल हियो।
काके सरन जाऊँ जदुनन्दन नाहिन और बियो॥

जाको मनमोहन अङ्ग करै।
ताको केस खसै नहि सिर तैं, जो जग बैर परै॥
हिरनकसिपु परहारि थक्यो प्रहलाद न नेक डरै।
अजहूँ सुत उत्तानपाद को राज करत न टरै॥
राखी लाज द्रुपद-तनया की, कुरुपति चीर हरै।
दुर्योधन को मान भङ्ग करि, बसन प्रवाह भरै॥
बिप्रभगत नृप अन्धकूप दियो बलि पड़ि वेद छरै।
दीनदयालु कृपालु दयानिधि का पै कह्यौ परै॥

जब सुरपति कोप्यो व्रज ऊपर कोइ हू कछु न सरै।
राखे व्रजजन नन्द के लाला गिरिधर विरुद धरै॥
जाको विरद है गर्वप्रहारी सो कैसे बिसरै।
'सूरदास' भगवन्त भजन करि सरन गहे उधरै॥

उपाधि

जो जग और वियो हौं पाऊँ।
तो यह विनती वार वार की हौं कत तुमहिं सुनाऊँ॥
सिव बिरंचि, सुर असुर नाग मुनि, सुतो जाँचि जन आयो।
भूल्यौ भ्रम्यो तृषातुर मृग लौं, काहू स्रम न गँवायो॥
अपथ सकल चलि चाहि चहूँ दिसि भ्रम उघटत मतिमन्द।
थकित होत रथ चक्रहीन ज्यों निरखि करम गुन फन्द॥
पौरुष रहित अजित-इन्द्रनबस, ज्यों गज पङ्क पर्यो।
विषयासक्त नटी को कपि ज्यों, जोइ कह्यो सु कर्यो॥
अपने ही अभिमान दोष तैं रबिहिं उलूक न मानत।
अतिसय सूकृत रहित अघ-व्याकुल वृथा सुमित रज छानत॥
सुनि त्रैताप-हरन करुनामय सन्तत दीन-दयाल।
'सूर' कुटिल राखै सरनाई, व्याकुल यहि कलिकाल॥

थोरे जीवन भयो तनु भारो।
कियो न सन्त समागम कबहूँ लियो न नाम तुम्हारो॥
अति उनमत्त निरंकुस मैगल निसि-दिन रहै असोच।
काम क्रोध मद लोभ मोह बस रहौं सदा अपसोच॥
महा मोह अग्यान तिमिर मैं मगन भयो सुख जानि।
तैलक वृष ज्यों भ्रम्यो भ्रमहि भ्रम भज्यो न सारंग-पानि॥
गीध्यो ढीठ हेम तसकर ज्यों अति आतुर मतिमन्द।
लुवध्यो स्वादु मीन आमिख ज्यों अवलोक्यो नहिं फन्द॥

ज्वाला प्रीति प्रगट सनमुख ह्वै हठि पतङ्ग बपु जारो।
विषयासक्त अमित अघ व्याकुल सो मैं कछु न सम्हारो॥
ज्यों कपि सीत हुतासन गुंजा सिमिटि होत लैलीन।
त्यों सठ वृथा तजै नहिं अङ्ग हठ रह्यो विषय आधीन॥
सेंवर फल सुरंग सुक निरखत मुदित भयो खग भूप।
परसत चोंच तूल उधरत मुख, तृन छादित पसु कूप॥
और कहाँ लगि कहौं कृपानिधि या तन के कृत काज।
'सूर' पतित तुम पतित-उधारन गहौ बिरद की लाज॥

मोहि प्रभु तुम सों होड़ परी।
ना जानों करिहौ जु कहा तुम नागर नवल हरी॥
पतित-समूहनि उद्धरिवे को तुम जिय जक पकरी।
मैं जू राजिवनैननि दुरि गयो पाप-पहार दरी॥
एक अधार साधु संगति को रचिपचि कै संचरी।
भई न सोचि सोचि जिय राखी अपनी धरनि धरी॥
मेरी मुकति विचारत हौ प्रभु पूँछत पहर घरी।
स्रम ते तुम्हें पसीनो एहै कत यह जकनि करी॥
'सूरदास' विनति कहा बिनवै दोसहिं देह भरी।
अपनी विरद सँभारहुगे तब यामें सब निनुरी॥

हरि के जन सब तैं अधिकारी।
ब्रह्मा महादेव तैं को बड़ तिनके सेवक भ्रमत भिखारी॥
जाँचक के पै जाँचक कह जाँचे जो जाँचे तौ रसना हारी।
गनिका-पूत सोभ नहि पावत जिन कुल कोऊ नहीं पिता री॥
तिनकी साखि देख हिरनाकुस रावन कुटुम समेत भे ख्वारी।
जन प्रहलाद प्रतिज्ञा पारी विभीखन जु अजहूँ राजा री॥

सिला तरी जलमाँझ सेत बँधि बलि बहि चरन अहिल्या तारी।
जे रघुनाथ सरन तकि आये तिनकी सकल आपदा टारी।
जिहि गोविन्द अचल ध्रुव राख्यो ग्रह दहिना व्रत देत सदा री।
'सूरदास' भगवन्त भजन बिनु धरती जननि बोझ कत मारी।

हरि हौं सब पतितन को नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी और नहीं कोउ लायक॥
जैसौ अजामेल को दीनों सोई पटो लिखि पाऊँ।
तौ बिस्वास होइ मन मेरे औरो पतित बुलाऊँ॥
यह मारग चौगुनो चलाऊँ तौ पूरो ब्यौपारी।
बचन मानि लै चलौं गाँठि दै पाऊँ सुख अति भारी॥
यह सुनि जहाँ तहाँ तैं सिमटैं आइ होइँ इक ठौर।
अब की तौ अपनी लै आयो, बेर बहुरि की और॥
होड़ाहोड़ी मन हुलास करि किये पाप भरि पेट॥
सबै पतित पाँयन तर डारौं इहैं हमारी भेंट॥
बहुत भरोसो जानि तुम्हारो अघ कीन्हें भरि भाँड़ो।
लीजै नाथ निबेरि तुरन्तहि 'सूर' पतित को टाँड़ो॥

बालकृष्ण

जसोदा मदन गोपाल सुवावै।
देखि सपन गत त्रिभुवन कंप्यो ईस बिरंचि भ्रमावै॥
असित अरुन सित आलस लोचन उभै पलक पर आवै।
जनु रवि गत संकुचित कमलजुग निसि अलि उड़न न पावै॥
चौंकि चौंकि सिसु दसा प्रगट करै छवि मन में नहिं आवै।
जानौ निसिपति धरि कर अमृत छिति भण्डार भरावै॥

स्वास उदर उछरत यों मानो दुग्धसिंधु छवि पावैं।
नाभि सरोज प्रगट पद्मासन उतर नाल पछितावै॥
कर सिर तर-करि स्याम मनोहर अलक अधिक सो भावै।
'सूरदास' मानों पन्नगपति प्रभु ऊपर फन छावै॥

कहाँ लौ बरनो सुन्दरताई।
खेलत कुँवर कनक आँगन में नैन निरखि छवि छाई॥
कुलहि लसत सिर स्याम सुभग अति बहु विधि सुरङ्ग बनाई।
मानों नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई॥
अति सुदेस मृदु चिकुर हरत मन मोहन मुख बगराई।
मानों प्रगट कंज पर मंजुल अलि अवली घिरि आई॥
नील सेत पर पीत लालमनि लटकन भाल लुनाई।
सनि गुरु-असुर देवगुरु मिलि मनौ भीर सहित समुदाई॥
दूध दन्त दुति कहि न जाति अति अद्भुत इक उपमाई।
किलकत हँसत दुरत प्रगटत मनौ घन में बिज्जु छिपाई॥
खंडित वचन देत पूरन सुख अलप जलप जलपाई।
घुटुरन चलत रेनु तनु मण्डित 'सूरदास' बलिजाई॥

हरि जू की बाल छबि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव कोटि मनोज सोभा हरनि॥
भुज भुजंग सरोज नयननि वदन बिधु जित्यो लरनि।
रहे विवरन, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरी डरनि॥
मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरत भूषन-भरनि।
मनहुँ सुभग सिंगार-सिसु तरू फरयौ अद्भुत फरनि॥
लसत कर प्रतिबिम्ब मनि आंगन घुटुरुंवन चरनिं।
जलज संपुट सुभग छवि भरि लेत उर जनु धरनि॥

पुन्य फल अनुभवति सुतहि विलोकि कै नंद-घरनि ।
'सूर' प्रभु की बसी उर किलकनि ललित लरखरनि ॥

आँगन खेलें नन्द के नन्दा । जदुकल-कुमुद-सुखद-चारु चन्दा
संग संग बल मोहन सोहैं । सिसुभूषन सब को मन मोहैं
तनु दुति मोर चन्द्र जिमि झलकै । उमँगि उमँगि अङ्ग अङ्ग छवि छलकै
कटि किंकिनि पग नूपुर बाजैं । पंकज-पानि पहुँचिया राजैं
कठुला कंठ बघनहा नीके । नयन सरोज मयन-सरसी के
लटकन ललित ललाट लटूरी । दमकत द्वै द्वै दंतुरियाँ रूरी
मुनिमन हरत मंजु मसिबिंदा । ललित बदन बल-बालगोबिंदा
कुलही चित्र-विचित्र झँगूली । निरखि जसोदा रोहिनि फूली
गहि मनि-खंभ डिंभ डग डोलै । कलबल बचन तोतरे बोलै
निरखत छवि झाँकत प्रतिबिंबै । देत परम सुख पित अरु अंबै
ब्रजजन देखत हिय हुलसाने । 'सूर' स्याम-महिमा को जाने

सखि री नंदनंदन देखु ।
धूरि धूसरि जटा जूटनि हरि किए हर भेषु ॥
नीलपाट पिरोइ मनिगन फनिस धोखो जाइ ।
खुनखुना करि हँसत मोहन नचत डौंरु बजाइ ॥
जलज माल गोपाल पहिरे कहौं कहा बनाइ ।
मुंडमाला मनो हरगर ऐसि शोभा पाइ ॥
स्वाँतिसुत माला बिराजत स्यामतन यों भाइ ।
मनो गंगा गौरि डर हर लिए कंठ लगाइ ॥
केहरी के नखहिं निरखत रही नारि बिचारि ।
बाल ससि मनो भालतैं लैं उर धरयो त्रिपुरारि ॥
देखि अङ्ग अनंग डरप्यो नंदसुत को जान ।
'सूर' हियरे बसौ यह स्याम सिव को ध्यान ॥

खेलत स्याम आपने रंग ।
नन्दलाल निहारि शोभा निरखि थकित अनंग ॥
चरन की छबि निरखि डरप्यो अरुन गगन छपाइ ।
जनु रमा की सचै छबि तेहि निदरि लई छँड़ाइ ॥
जुगुल जंघनि खंभ रंभा नहिन समसरि ताहि ।
कटि निरखि केहरि लजाने रहैं घन बन चाहि ॥
हृदय हरिनख अति बिराजत छबि न बरनी जाइ ।
मनौ बालक बारिधर नवचन्द्र लियो छिपाइ ॥
मुक्तमाल बिसाल उर पर कछु कहौं उपमाइ ।
मनौ तारागन नवोदित नभ रहे दरसाइ ॥
अधर अरुन अनूप नासा निरखिजन सुखदाइ ।
मनौ सुक फल बिंब कारन लैन बैठो आइ ॥
कुटिल अलक बिन पवन के मनौ अलि ससि जाल ।
'सूर' प्रभु की ललित सोभा निरखि रही ब्रज बाल ॥

कुँवर जल लोचन भरि भरि लेत ।
बालक बदन बिलोकि जसोदा कत रिस करत अचेत ॥
छोरि कमर तैं दुसह दाँवरी डारि कठिन कर बेत ।
कहि तो को कैसे आवतु है सिसु पर तामस एत ॥
मुख आँसू माखन के कनिका निरखि नैन सुख देत ।
मनु ससिस्रवत सुधानिधि मोती उडुगन अवलि समेत ॥
सरबसु तौ न्यौछावरि कीजै 'सूर' स्याम के हेत ।
ना जानौं केहि हेतु प्रगट भये इहि ब्रज नन्द निकेत ॥

जसोदा तेरो भलो हियो है माई ।
कमल नयन माखन के कारण बाँधे ऊखल लाई ।

जो सम्पदा देव मुनि दुरलभ सपनेहुँ दइ न दिखाई।
याही ते तू गरब भुलानी घर बैठे निधि पाई॥
सुत काहू को रोवत देखति दौरि लेति हिय लाई।
अब अपने घर के लरिका सों इती कहा जड़ताई॥
बारम्बार सजल लोचन ह्वै चितवत कुँवर कन्हाई।
कहा करौं बलि जाऊँ छोरती तेरी सौंह दिवाई॥
जो मूरति जल थल मों व्यापक निगम न खोजत पाई।
सो मूरति तू अपने आँगन चुटकी दैदै नचाई॥
सुरपालक सब असुर-संहारक त्रिभुवन जाहि डराई।
'सूरदास' प्रभु की यह लीला निगम नेति नित गाई॥

ब्रजवासी कोउ पटतर नाँहि।
ब्रह्म सनक सिव ध्यान न पावत इनकी जूठनि लै लै खाँहि
धन्य नन्द धनि जननि जसोदा धन्य जहाँ अवतार कन्हाइ
धन्य धन्य बृन्दावन के तरु जहँ बिहरत त्रिभुवन के राइ
हलधर कह्यौ छाक जैंवत संग मीठो लगत सराहत जाइ
'सूरदास' प्रभु विस्वम्भर हैं ते ग्वालन के कौर अघाइ

रूप माधुरी

देखो माई सुन्दरता को सागर।
बुधि विवेक बल पार न पावत मगन होत मन नागर॥
तनु अति स्याम अगाध अम्बुनिधि कटि पट-पीत तरङ्ग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजत भँवर परत अङ्ग अङ्ग॥
मीन नैन मकराकृत कुण्डल भुजबल सुभग भुजङ्ग।
मुकुत-माल मिलि मानो सुरसरि द्वै सरिता लिये सङ्ग॥

मोर मुकुट मनिगन आभूषन कटि किंकिन नखचन्द।
मनु अडोल वारिध में बिंबित राका उड़गन बृन्द ॥
वदन चन्द्र-मण्डल की शोभा अवलोकत सुख देत।
जनु जलनिधि मथि प्रगट कियो ससि श्री अरु सुधा समेत ॥
देखि सुरूप सकल गोपीजन रहीं निहारि निहारि।
तदपि 'सूर' तरि सकीं न शोभा रहीं प्रेम पचि हारि ॥

देखि सखी अधरन की लाली।
मनि मरकत तैं सुभग कलेवर ऐसे हैं बनमाली ॥
मनौ प्रात की घटा साँवरी तापर अरुन प्रकास।
ज्यों दामिनि विच चमकि रहत है फहरत पीत सुवास ॥
कीधौं तरुन तमाल बेलि चढ़ि जुग फल बिंबा पाके।
नासा कीर आय मनु बैठो लेत बनत नहिं ताके ॥
हँसत दसन एक सोभा उपजति उपमा जात लजाई।
मनौ नीलमनि पुट मुकतागन वंदन भरि बगराई ॥
किधौं बज्रकन लाल नगन खचि तापर बिद्रुम पाँति।
किधौं सुभग वंधूक सुमन पर झलकत जलकन काँति ॥
किधौं अरुन अम्बुज विच बैठी सुन्दरताई आइ।
'सूर' अरुन अधरन की शोभा बरनत बरनि न जाइ ॥

ब्रज जुवती हरि चरन मनावैं।
जे पद कमल महामुनि दुर्लभ ते सपनेहु ना पावैं ॥
तनु त्रिभंग, जुग जानु, एक पग ठाढ़े, इक दरसायो।
अंकुस कुलिस वज्र ध्वज परगट तरुनी मन भरमायो ॥
वह छवि देखि रही इकटक ही यह मन करति विचार।
'सूरदास' मनो अरुन कमल पर सुषमा करति विहार ॥

नटवर वेष काछे स्याम।
पद कमल नख इन्दु सोभा ध्यान पूरन काम॥
जानु जंघ सघट निकाई नाहि रंभा तूल।
पीत पट काछनी मानहु जलज केसरि झूल॥
कनक छुद्रावली पंगति नाभि कटि के भीर।
मनहुँ हँस रसाल पंगति रहे हैं ह्रद तीर॥
झलक रोमावली शोभा ग्रीव मोतिन हार।
मनहुँ गंगा बीच जमुना चली मिलि कै धार॥
बाहुदण्ड बिसाल तट दोउ अङ्ग चन्दन रेन।
तीर तरु बनमाल की छवि व्रज जुवति सुख देन॥
चिबुक पर अधरन दसन दुति बिंब बीजु लजाइ।
नासिका सुक नैन खंजन कहत कवि सरमाइ॥
स्रवन कुंडल कोटि रवि छवि भृकुटि काम कोदण्ड।
'सूर' प्रभु हैं नीप के तर सिर धरे सीखण्ड॥

मुरली माधुरी

अंगन की सुधि भूलि गई।
स्याम अधर मृदु सुनत मुरलिका चक्रित नारि भई॥
जो जैसे सो तैसेहि रहि गई सुख दुख कह्यो न जाई।
लिखी चित्र की-सी सब ह्वै गईं एकटक पल बिसराई॥
काहू सुधि काहू सुधि नाहीं सहज मुरलिका तान।
भवन रवन की सुधि न रही तनु सुनत सबद वह कान॥
सखियन तैं मुरली अति प्यारी वे बैरिन यह सौति।
'सूर' परसपर कहत गोपिका यह उपजी उदभौति॥

बंशी बन कान्ह बजावत।
आइ सुनौ स्रवननि मधुरे सुर राग रागिनी ल्यावत॥
सुर, श्रुति, ताल, बँधान अमित अति, सप्त अतीत अनागत आवत।
जनु जुग कर वर बेष साधि मथि बदन पयोधि अमृत उपजावत॥
मनौ मोहिनी भेष धरे हरि मुरली मोहन मुख मधु प्यावत।
सुर नर मुनि बस किये राग रस अधर सुधारस मदन जगावत॥
महा मनोहर नाद 'सूर' थिर चर मोहे मिली मरम न पावत।
मानहु मूक मिठाई के गुन कहि न सकत मुख, सीस डुलावत॥

मुरली अति गर्व काहु बदति नाहिं आजु।
हरि को मुख कमल देखि पायो सुख-राजु॥
बैठति कर पीठ, ढीठ अधर छत्र छाहीं।
चमर चिकुर राजत तहँ सुभग सभा माहीं॥
जमुना के जलहिं नाहिं जलधि जान देति।
सुरपुर तैं सुर-बिमान भुवि बुलाइ लेति॥
थावर चर जंगम जहँ करति जित अजीती।
बेदन बिधि मेंटि चलति आपने ही रीती॥
बंशी बस सकल 'सूर' सुर नर मुनि नागा।
श्रीपतिहू श्री बिसारि एही अनुरागा॥

जब मोहन मुरली अधर धरी।
गृह व्यवहार थके आरजपथ तजत न संक करी॥
पदरिपु पट अटक्यो आतुर ज्यों उलटि पलटि उवरी।
सिवसुत वाहन आय पुकारो मन चित बुद्धि हरी॥
दुर गये कीर, कपोत, मधुप, पिक, सारंग सुधि बिसरी।
उड़पति, विद्रुम, बिम्ब खिसान्यो दामिन अधिक डरी॥

निरखे स्याम पतंग-सुता-तट आनन्द उमङ्ग भरी।
'सूरदास' प्रभु प्रीति परसपर प्रेम प्रवाह परी॥

चली बन वेनु सुनत जब धाई।
मात पिता बंधव इक त्रासत जाति कहाँ अकुलाई॥
सकुच नहीं संका हू नाहीं राति कहाँ तुम जाति।
जननी कहत दई की घाली काहे को इतराति॥
मानति नहीं और रिस पावति निकसी नातो तोरि।
जैसे जल प्रवाह भादौं को सो को सकै बहोरि॥
ज्यों कैंचुरी भुवंगम त्यागत मातु पिता त्यों त्यागे।
'सूर' स्याम के हाथ बिकानीं, अलि अंबुज अनुरागे॥

रास रस मुरली ही तैं जान्यो।
स्याम अधर पर बैठि नाद कियो मारग चन्द्र हिरान्यौ॥
धरनि जीव जल थल के मोहे नभमंडल सुर थाके।
तृन द्रुम सलिल पवन गति भूले स्रवन शब्द पर्यो जाके॥
बच्यो नहीं पाताल, रसातल कितिक उदय लौं भान।
नारद सारद सिव यह भाषत कछु तन रह्यो न सयान॥
यह अपार रस रास उपायो सुन्यो न देख्यो नैन।
नारायन धुनि सुनि ललचाने स्याम अधर सुनि बैन॥
कहत रमा सों सुनि री प्यारी बिहरत हैं बन स्याम।
'सूर' कहाँ हमकौं वैसो सुख जो बिलसति ब्रज बाम॥

जीती जीती है रन वंसी।
मधुकर सूत, बदन बंदी पिक, मागध मदन प्रसंसी॥
मथ्यो मान बल दर्प महीपति जुवति जूथ गहि आने।
ध्वनि कोदंड ब्रह्मांड भेद करि सुर सन्मुख सर ताने॥

ब्रह्मादिक सिव सनक सनन्दन बोलत जय जय बाने।
राधापति सरबसु अपनो दै पुनि ता हाथ बिकाने॥
रवि को रथ लै दियो सोम को षट दस कला समेत।
रच्यो यज्ञ रस रास राजसू बृन्दा बिपिन निकेत॥
दान मान परधान प्रेम बस बढ्यो माधुरी हेत।
अधिकारी गोपाल तहाँ हैं 'सूर' सबनि सुख देत॥

भ्रमर गीत

गोकुल सबै गोपाल उपासी।
जोग अंग साधत जे ऊधो ते सब बसत ईसपुर कासी॥
जद्यपि हरि हम तजि अनाथ करि तदपि रहति चरननि रसरासी।
अपनी सीतलताहि न छाँड़त जद्यपि है ससि राहु गरासी॥
का अपराध जोग लिखि पठवत प्रेम भजन तजि करत उदासी।
'सूरदास' ऐसी को बिरहिनि माँगत मुक्ति तजे धनरासी॥

आयो घोस बड़ो व्यापारी।
लादि खेप गुन ज्ञान जोग की ब्रज में आय उतारी॥
फाटक देकर हाटक माँगत भोरिय निपट सुधारी॥
धुर ही तैं खोटो खायो है लये फिरत सिर भारी॥
इनके कहे कौन डहकावै ऐसी कौन अजानी।
अपनो दूध छाँड़ि को पीवै खार कूप को पानी॥
ऊधो जाहु सवार यहाँ तै वेगि गहरु जनि लाओ।
मुँह माँगो पै हौ 'सूरज' प्रभु साहहिं आनि दिखाओ॥

हमरे कौन जोग व्रत साधै।
मृगत्वच, भस्म, अधारि, जटा को, को इतनो अवराधै॥

जाकी कहूँ थाह नहिं पैयै अगम, अपार अगाधै।
गिरिधरलाल छबीले मुख पर इते बाँध को बाँधै।
आसन पवन भूति मृगछाला ध्याननि को अवराधै।
'सूरदास' मानिक परिहरि कै राख गाँठि को बाँधै॥

अटपटि बात तिहारी, ऊधो, सुनै सो ऐसी को है।
हम अहीरि अबला सठ मधुकर! तिन्हैं जोग कैसे सोहै॥
बूचहि खुभी, आँधरहि काजर, नकटी पहिरै बेसरि।
मुडली पाटी पारन चाहै, कोढ़ी अङ्गहि केसरि॥
बहिरी सों पति मतौ करै, सौ उतर कौन पै आवै।
ऐसो न्याव है ताको ऊधो जो हमें जोग सिखावै॥
जो तुम हमकौं लाये कृपाकरि सिर चढ़ाय हम लीन्हे।
'सूरदास' नरियर ज्यों विष को करहि बन्दना कीन्हे॥

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूप रस राँची ये बतियाँ सुनि रूखी॥
अवधि गनत इक टक मग जोवत तब एती नहिं भूँखी।
अब इन जोग संदेसन ऊधो अति अकुलानी दूखी॥
बारक वह मुख फेरि दिखाओ दुहि पय पियत पतूखी।
'सूर' सिकत हठि नाव चलाओ ये सरिता हैं सूखी॥

हमारे हरि हारिल की लकरी।
मन बच क्रम नंदनंदन सों उर यह दृढ़ करि पकरी॥
जागत, सोवत सपने सौंतुख कान्ह कान्ह जकरी।
सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि ज्यों करुई ककरी॥
सोई व्याधि हमैं लै आये, देखी सुनी न करी।
यह तौ 'सूर' तिन्हैं लै दीजै जिनके मन चकरी॥

निर्गुन कौन देस कौ बासी।
मधुकर! हँसि समुझाय सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी॥
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी।
कैसो बरन, भेस है कैसो, केहि रस में अभिलासी॥
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे! कहैगो गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यौ ठग्यो सो 'सूर' सबै मति नासी॥

नाहिन रह्यो मन में ठौर।
नन्दनन्दन अछत कैसे आनिए उर और॥
चलत चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति।
हृदय तें वह स्याम मूरति छन न इत उत जाति॥
कहत कथा अनेक ऊधो लोक लाभ दिखाय।
कहा करौं तन प्रेम पूरन घट न सिन्धु समाय॥
स्यामगात, सरोज आनन, ललित अति मृदुहास।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

प्रीति करि दीन्हीं गरे छुरी।
जैसे बधिक चुगाय कपट कन पाछे करत बुरी॥
मुरली मधुर चेंप कर काँपो मोरचन्द्र टटवारी।
बंक बिलोकनि लूक लगि बस सकी न तनहिं सँभारी॥
तलफत छाँड़ि चले मधुबन कौं फिर कै लई न सार।
'सूरदास' वा कुसल तरोवर फेरि न बैठी डार॥

मुकुति आनि मंदे में मेली।
समुझि सगुन लै चलौ न ऊधो! या सब तुम्हरे पूजि अकेली॥
कै लै जाहु अनत ही बेचन कै लै जाहु जहाँ बिस-बेली।
याहि लागि को मरै हमारैं बृन्दावन पाँयन तर पेली॥

सीस धरे घर घर कत डोलत एक मते सब भईं सहेली।
'सूर' यहाँ गिरिधरन छबीलो जिनकी भुजा अंस गहि मेली।

बिनु गोपाल बैरिन भई कुँजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भई विषम ज्वाल की पुँजैं।
बृथा बहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल फूलै अलि गुँजैं।
पवन, पानि, घनसार, सजीवनि, दधिसुत किरन भानु भई भुँजैं।
ये ऊधौ कहियो माधव सों विरह करद कर मारत लुँजैं।
'सूरदास' प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुँजैं।

सँदेसनि मधुबन कूप भरे।
जे कोई पथिक गए हैं ह्याँते फिर नहिं अवन करे॥
कै वै स्याम सिखाय समोधे कै वे बीच मरे।
अपने नहिं पठवत नँदनन्दन हमरेउ फेरि धरे॥
मसि खूँटी कागद जल भीजे, सर दौ लागि जरे।
पाती लिखैं कहौ क्योंकरि जो पलक कपाट अरे॥

उपमा एक न नैन गही।
कविजन कहत कहत चलि आये सुधि करि करि काहू न कही॥
कहे चकोर, मुख विधु बिनु जीवत, भँवर न तँह उड़ि जाति।
हरिमुख कमल कोस बिछुरे तैं ठाले क्यों ठहरात॥
खञ्जन मनरञ्जन जन जो पै कबहुँ नाहिं सतरात।
पंख पसारि न उड़त, मंद ह्वै, समर समीप बिकात॥
आये बधन ब्याधि ह्वै ऊधो, जौ मृग क्यों न पलाय।
देखत भागि बसैं घन बन में जहँ कोउ संग न जाय॥
ब्रजलोचन बिनु लोचन कैसे ? प्रतिदिन अति दुख बाढ़त।
'सूरदास' मीनता कछू इक जल भरि संग न छाँड़त॥

ऊधौ जाहु तुम्हें हम जाने।
स्याम तुम्हें ह्याँ नाहिं पठाये तुम हो वीच भुलाने॥
ब्रजबासिन सौं जोग कहत हौ वातहु कहत न जाने।
वड़ लागै न बिवेक तुम्हारो ऐसे नये अयाने॥
हमसों कही लई सो सहि कै जिय गुनि लेहु अपाने।
कहँ अवला कहँ दसा दिगम्बर सँमुखे करो पहिचाने॥
साँच कहो तुम को अपनी सौं वूझति वात निदाने।
'सूर' स्याम जव तुम्हें पठाये, तव नैकहु मुसकाने॥

मधुकर हम न होहिं वे वेली।
जिनको तुम तजि भजत प्रीति बिनु करत कुसुम रस केली॥
वारेतैं बलवीर बढ़ाई पोसी प्यायी पानी।
विन प्रिय परस प्रात उठि फूलत होत सदा हित हानी॥
ये वल्ली बिहरत बृन्दावन अरुझीं स्याम तमालहिं।
प्रेम पुष्प रस वास हमारे विलसत मधुर गोपालहिं॥
जोग समीर धीर नहिं डोलत रूप डार ढिंग लागीं।
'सूर' पराग न तजत हिये तें कमल नयन अनुरागीं॥

मधुकर तुम हौ स्याम सखाई।
पालागों यह दोष वकसियो सम्मुख करत ढिठाई॥
कौने रङ्क सम्पदा बिलसी सोवत सपने पाई।
किन सोने की उड़त चिरैया डोरी बाँधि खिलाई॥
धाम धुआँ के कहौ कौन के वैठी कहाँ अथाई।
किन अकास तें तोरि तरैयाँ आनि धरी घर माई॥
ओरन को माला गुहि कौने अपने करन वनाई?
बिन जल चलत नाव किन देखी उतरि पार को जाई॥

कौन कमल-नैनी पति छोड़े जाय समाधि लगाई।
'सूरदास' तू फिर फिर गावत यामें कौन बड़ाई॥

तबते इन सबहिन सचु पायो।
जबते हरि सन्देश तिहारो सुनत तवाँरो आयो॥
फूले ब्याल दुरे ते प्रगटे पवन पेट भरि खायो।
फूले मिरगा चौंकि चखन तें हुते जो बन बिसरायो॥
ऊँचे बैठि बिहंग सभा बिच कोकिल मंगल गायो।
निकसि कन्दरा ते केहरि हू माथे पूँछ हिलायो॥
गहबर तैं गजराज निकसि कै अङ्ग अङ्ग गर्व जनायो।
'सूर' बहुरिहौ कह राधा कैं करिहौ बैरिन भायो॥

ऊधो ऐसो काम न कीजै।
एक रंग कारे तुम दोऊ, धोय सेतु क्यों कीजै॥
फेरि फेरि कै दुख अवगाहै, हम सब करी अचेत।
कत पट पर गोता मारत हौ निरे भूड़ के खेत॥
तरपर कोटि कीट कुल जन्मे कहा भलाई जाने।
फोरति बाँस गाँठि दाँतन सौं बार बार ललचाने॥
छाँड़ि कमल सों हेतु आपनो तू कत अनतहि जाय।
लंपट ढीट बहुत अपराधी कैसे मन पतियाय॥
यहैजु बात कहति हौं तुम सों फिरि मति कबहुँ आवहु।
एक बार समुझावहु 'सूरज' अपनो ज्ञान सिखावहु॥

ऊधो! भली करी अब आए।
विधि कुलाल कीने काँचे घट ते तुम आनि पकाए॥
रंग दियो हो कान्ह साँवरे अंग अंग चित्र बनाए।
गलन न पाए नयन नीर तें अवधि अटा जो छाए॥

व्रज करि अवाँ जोग करि ईंधन सुरति अगिनि सुलगाए।
सोक उसाँस बिरह तन प्रजुलित दरसन आस फिराए॥
भए सँपूरग भरे प्रेमजल, छुवन न काहू पाए।
राज काज ते गए 'सूर' सुनि नँदनन्दन कर लाए॥

लखियत कालिंदी अति कारी।
कहियौ पथिक जाय हरि सों ज्यों भई विरह-जुर-जारी॥
मनु पलिका पै परी धरन धँसि तरंग तलफ तनु भारी।
तट बारू उपचार चूर मनौ स्वेद प्रवाह पनारी॥
बिगलति कच कुस कास पुलिन मनौ पंकज कज्जल सारी।
भ्रमर मनौ मति भ्रमति चहूँ दिसि फिरति है अङ्ग दुखारी॥
निसिदिन चकई ब्याज बकत मुख किन मानस अनुहारी।
'सूरदास' प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी॥

तुम्हरे बिरह ब्रजनाथ अहो प्रिय! नयनन नदी बढ़ी।
लीने जाति निमेष-केल दोऊ, एते मान चढ़ी॥
गोलक नाउ निमेष न लागत, सो पलकनि वढ़ि बोरति।
ऊरध स्वाँस समीर, तरंगनि तेज तिलक तरु तोरति॥
कज्जल कीच कुचील किये तट अन्तर अधर कपोल।
रहे पथिक जो जहाँ सो तहाँ थकि हस्त चरण मुख बोल॥
नाहिन और उपाय रमापति बिन दरसन छन छीजै।
अस्र सलिल बूढ़त सब गोकुल 'सूर' सुकरि गहि लीजै॥

ब्रज की कहाँ कहाँ कहूँ बातें।
गिरि-तनया-पति-भूषन जैसे बिरह जरीं दिन रात॥
मलिन बसन, हरि हितु अन्तरगति तनु पीरे जनु पातैं।
गदगद बचन, नयन जल पूरति, बिलख बदन कृस गातैं॥

मुकता-तात-भवन ते बिछुरे मीन सरिस बिललाते।
सारंग-रिपु सुत-सुहृदपती बिनु दुख पावत बहु भाँते॥
हरि सुर भूषन बिना, बिरहा तै छीन भई तन, ताते।
'सूरदास' गोपिन परतिज्ञा, मिलहिं पहिल के नाते॥

प्राननाथ तुम विनु ब्रजबाला ह्वै गई, सबै अनाथ।
व्याकुल भईं मीन सी तलफत छन छन मीजति हाथ॥
ग्रहपति-सुत-हित-अनुचर को सुत जारत रहत हमेस।
जलपतिभूषन उदित होत ही पारत कठिन कलेस॥
कुंज पुंज लखि नयन हमारे भंजन चाहत प्रान।
'सूरदास' प्रभु 'परिकर अंकुर' दीजै जीवन दान॥

माधव जू! मैं उत अति सचु पायो।
अपनो जानि, सँदेस व्याज करि, ब्रज जन मिलन पठायो।
छमा करौ तौ करौ बीनती जो उत लखि हौं आयो।
श्रीमुख ज्ञान पंथ जो उचर्‌यो, तिन पै कछु न सोहायो।
सकल निगम सिद्धान्त जनम श्रम स्यामा सहज सुनायो।
नहिं स्रुत सेस महेस प्रजापति जो रस गोपिन गायो।
कटुक कथा लागी मोहि अपनी वा रससिन्धु समायो।
उत तुम देखे और भाँति सैं, सकल तृषाहिं बुझायो।
तुम्हारी अकथ कथा तुम जानो, हम जन नाहिं बसायो।
'सूरदास' सुन्दर पद निरखत, नयनन नीर बहायो॥

———

गोस्वामी तुलसीदास

कवि परिचय—

हिन्दी-कविता-कानन-केशरी कविकुल-कुमुद-कलाधर गोस्वामीजी का जन्म सं० १५५४ में बाँदा जिले के राजापुर गाँव में हुआ। कुछ लोग सूकर क्षेत्र के आधार पर उनका जन्म-स्थान सोरों में मानते हैं, किन्तु एक सूकर क्षेत्र पूरब में गोंडा जिले में भी है। इनका जीवन चरित्र जानने के लिये हिन्दी संसार के पास दो साधन उपलब्ध हैं—(१) बाबा बेनीमाधवदास कृत गुसांईं चरित्र (२) रघुवरदासजी कृत तुलसी चरित्र। जन्म संवत् के विषय में दोनों ग्रन्थों का एक मत है। किन्तु डाक्टर ग्रियर्सन ने भक्तों की जन-श्रुति के अनुसार पं० रामगुलाम द्विवेदी द्वारा स्वीकृत सं० १५८९ को ही गोस्वामीजी का जन्म वर्ष माना है। उपर्युक्त दोनों जीवन चरित्रों में अत्यन्त अन्तर है। 'गोसाईं चरित्र' के अनुसार तुलसीदास के माता-पिता का नाम हुलसी एवं आत्माराम था। इनका विवाह दीनबन्धु पाठक की सुपुत्री रत्नावली के साथ हुआ था। इनके गुरु नरहरिदास थे। इन्होंने सात वर्ष में रामायण समाप्त की थी। जब ये उत्पन्न हुए तब इनके दाँत भी थे तथा ये पाँच वर्ष के बालक के समान थे। संवत् १६१६ में इन्होंने सूरदासजी से भेंट की। फलतः एक दूसरे से प्रभावित हुए और कृष्ण गीतावली और सूर-रामायण की उद्भावना हुई। गोस्वामीजी श्रावण श्यामा तीज शनिवार के दिन परलोक सिधारे।

'तुलसी चरित्र' के अनुसार सरवार में मझौली से तेईस कोस पर कसया ग्राम में गोस्वामीजी के प्रपितामह परशुराम मिश्र (जो गाने के मिश्र थे) रहते थे। वे तीर्थाटन करते हुए चित्रकूट पहुँच गये और राजपुर में बस गये। उनके पुत्र शङ्कर मिश्र हुए। शङ्कर के रुद्रनाथ, रुद्रनाथ के मुरारि एवं मुरारि के तुलाराम हुए। यही भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी थे। इनका सरयूपारी ब्राह्मण होना दोनों चरित्रों में पाया जाता है और प्रायः सर्वमान्य है। तुलसीचरित्र के अनुसार श्रावण

शुक्ला सप्तमी को इनका शरीरपात हुआ। किन्तु गोसाईं चरित्र की
अधिक विश्वसनीय मानी जा सकती है क्योंकि टोडरमल जमींदा
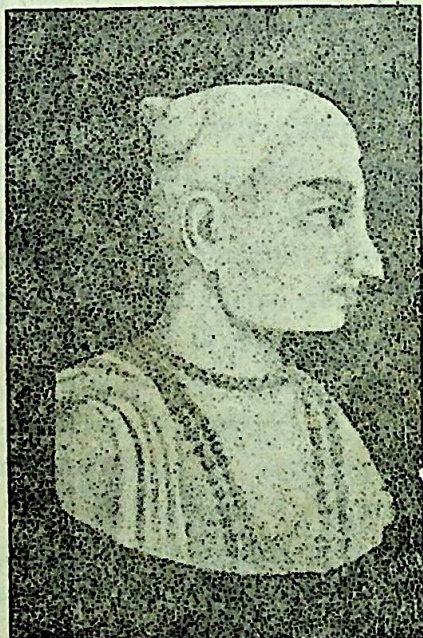
गोस्वामी तुलसीदास

वंशज गोस्वामीजी के नाम पर अब भी श्रावण श्यामा तृतीया
सीधा देते हैं। ये टोडरमल प्रसिद्ध वङ्गविजेता राजा टोडरमल से

गोस्वामी तुलसीदास

काशी के एक जमींदार थे एवं गोस्वामीजी के मित्रों में से थे। इनके वंशजों के पास गोस्वामीजी के हाथ के लिखे हुए कतिपय फारसी के कागज-पत्र अब भी सुरक्षित हैं। गोस्वामीजी के परिचित लोगों में से अब्दुर्रहीम खानखाना, राजा मानसिंह एवं मीराबाई के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपने जीवन को काशी, चित्रकूट, अवध आदि स्थानों पर बिताया था। अनेक महात्माओं के समान इनके जीवन के साथ भी अनेक चमत्कारी दन्तकथाएँ संलग्न हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक है। कवितावली के उत्तरकाण्ड से पता चलता है कि गोस्वामीजी को अन्तिम समय में बाहु का रोग हो गया था। काशी की दशा का वर्णन करते हुए रुद्रबीसी का उल्लेख करते हैं। यह रुद्रबीसी सं० १६६६ से १६८६ तक रही थी। अत गोस्वामीजी के काल-निर्णय में सहायता पहुँचती है।

प्रसिद्ध अष्टछाप के कवियों में नन्ददास एक जन-श्रुति के अनुसार इनके छोटे भाई थे।

ग्रन्थ

गोस्वामीजी के लिखे हुए निम्नलिखित ग्रन्थ हैं—

बड़े ग्रन्थ

(१) रामचरितमानस (२) विनय-पत्रिका
(३) कवितावली रामायण (४) दोहावली रामायण
(५) गीतावली रामायण (६) बरवै रामायण

छोटे ग्रन्थ

(७) जानकी मङ्गल (८) रामलला नहछू
(९) पार्वती मङ्गल (१०) कृष्ण गीतावली
(११) वैराग्य संदीपिनी (१२) रामाज्ञा प्रश्न

शिवसिंह सरोज के कथनानुसार निम्न पुस्तकें भी गोस्वामीजी द्वारा रचित हैं—

(१३) राम सतसई (१४) सङ्कटमोचन
(१५) हनुमान् बाहुक (१६) रामसलाका

(१७) छन्दावली (१८) छप्पै रामायण
(१९) ★कड़खा रामायण (२०) रोला रामायण
(२१) झूलना रामायण (२२) ★कुण्डलिया रामायण

इनमें से पुष्पाङ्कित पुस्तकें अप्राप्य हैं। राम सतसई पर पं० सुधा[कर]
द्विवेदी ने कुण्डलियाँ बनाई हैं। परन्तु वे उन्हें तुलसी नामक कि[सी]
कायस्थ कवि द्वारा बनाई हुई कहते हैं।

इन सब ग्रन्थों पर सरसरी नजर डालने से हमें गोस्वामीजी [की]
सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का पता चलता है। गोस्वामीजी ने रामचरि[त के]
सिवा कुछ नहीं लिखा, उनका जीवन राममय था। नरकाव्य करना
सरस्वती का अपमान करना समझते थे। विषय एक ही होने पर
प्रत्येक शैली में गोस्वामीजी नये रूप में पाठकों के सामने आते हैं।
शैलियाँ निम्नलिखित हैं:—

(१) जनकाव्य का रासोपद्धति की शैली।
(२) गीतकाव्य (जैसा सूरदास के पदों में है)।
(३) मुक्तक कवित्तों सवैयों वाला काव्य।
(४) दोहा चौपाई शैली (जैसी कि जायसी की पद्मावत में है)
(५) सतसई की नीति के दोहों की शैली।

ऊपर की सभी शैलियों में इन्होंने ग्रन्थ बनाये। वीरगाथा वाली शै[ली]
के दर्शन युद्ध-वर्णन-सम्बन्धी छप्पय आदि छन्दों में मिलते हैं। गीता[वली]
गीतकाव्य का सुन्दर नमूना है। कवितावली में भाटों की मुक्तक शैली
दर्शन होते हैं। विनय पत्रिका में तो गोस्वामीजी की स्वानुभव-निरू[पण]
कला (Subjective Poetry) अपने पूर्ण रूप से सामने आती है। रा[म]
चरितमानस तो हिन्दी-साहित्य का मुकुट ही है। चाहे
जीवन काव्य कहें या भारत के सामाजिक जीवन का प्राण; इसमें अत्यु[क्ति]
की सम्भावना ही नहीं है। गोस्वामीजी की सारग्राहिणी प्रवृत्ति का
अधिक क्या परिचय मिल सकता है कि स्थानभ्रष्ट कञ्चन के स[मान]
ग्रामीण लोगों में पड़े हुए सोहर छन्द को भी चुन कर अपने 'राम[...]

लहछू' एवं 'जानकीमंगल' जैसे सुन्दर काव्यों के रूप में जनता के सामने रखा। ब्रज और अवधी दोनों साहित्यिक भाषाओं पर आपका समान अधिकार था।

गोस्वामीजी के इष्टदेव का आदर्श 'मेघ' का है जो लोक-कल्याणकारी तथा नयनाभिराम है। उनके लिये साधक भक्त का आदर्श चातक या पपीहा था। दोहावली में इन्होंने अनेक अन्योक्तियों के द्वारा पपीहा की सी अनन्यता का प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार रामचरितमानस को 'जीवनकाव्य' कहा गया है उसी प्रकार विनयपत्रिका को भाषा का वेद कहना चाहिये। प्रार्थना सम्बन्धी इतना बड़ा ग्रन्थ वेदों को छोड़ कर संसार के साहित्य में कठिनता से ही मिलेगा। दीनता, भर्त्सना, मानभंग, मनोराज्य, भयदर्शन, विचारण एवं आश्वासन ये विनय की सप्त भूमिकाएँ मानी गई हैं जो विनयपत्रिका में पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। वस्तुतः हृदय खोल कर आराध्यदेव के सामने यदि कभी गोस्वामीजी ने रखा है तो वह विनयपत्रिका ही में। इसमें राजदरबार में अर्जी देने के पहले सब मुसाहिबों से जिस प्रकार मिलना पड़ता है, उसी ढङ्ग पर सब देवताओं आदि की स्तुति भी कराई गई है। सारांश यह है कि महात्मा तुलसीदास हिन्दी-साहित्य के सर्वस्व हैं। इनके कारण हिन्दी-साहित्य संसार के साहित्य में गर्व से अपना सिर ऊँचा कर सकता है।

भाव-पक्ष—

तुलसीदासजी को समझने के लिये उनकी अन्तःप्रवृत्ति में गोता लगाने की आवश्यकता है। इनकी भक्ति-पद्धति भारतीय भागवत धर्म की सुदृढ़ आधार-भूमि पर स्थापित होने के कारण रहस्य भावना से परे थी। परमात्मा के शील, शक्ति एवं सौन्दर्य इन तीनों विभूतियों की चरमसीमा को प्राप्त व्यक्त रूप ही इस भक्ति का आलम्बन था। लोकधर्म का व्यक्त स्पष्टीकरण रामचरित ही है। गोस्वामीजी ने रामचरित के इस पक्ष को

भली-भाँति समझा था। अतः इस पक्ष के सामञ्जस्य निर्वाह में ये इ
सफल हुए हैं कि इनका व्यक्तिधर्म-साधुधर्म उस लोकधर्म की आभा
आगे दव-सा गया है। तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि गोस्वामीजी
अपनी अनुभूति को कहीं स्थान नहीं मिला है। अन्वेषकगण उन
व्यक्तिधर्म को स्पष्ट ही 'जाके प्रिय न राम वैदेही। तजिये ताहि को
बैरी सम यद्यपि परम सनेही' जैसे पद्यों में ढूँढ़ निकालते हैं। यह महा
तुलसीदास ही का प्रताप है कि भारतीय हिन्दुओं के यहाँ धर्म औ
जातीयता दो विभिन्न वस्तुएँ न रहीं। जातीयता कभी भी धर्म के विरो
में यहाँ खड़ी ही न रहेगी जैसा कि सांसारिक वैभव को धर्म से अ
मानने वाले पाश्चात्य राष्ट्रों में होता है।

भारतीयों को गोस्वामीजी का सबसे बड़ा वरदान 'आशावादि
है। चाहे सैकड़ों निराशाएँ हों, हिन्दू जाति अपने इस विश्वास से
नहीं सकती। रावणत्व की पराकाष्ठा होने पर राम का आविर्भ
अवश्यम्भावी है। सामाजिक उच्छृङ्खलता इन्हें बहुत अखरती थी
यह चाहते थे कि वर्णाश्रम धर्म अपने सुव्यवस्थित रूप में कायम र
इस कारण वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध आन्दोलन करने वाले लोगों के
आपने कटूक्तियों का प्रयोग भी किया है। रामचरित में आपने श
को उचित महत्त्व दिया है, एवं भक्ति को शील पर आधारित माना
वस्तुतः अनन्त शील के बिना भक्ति का सात्विक आलम्बन ही सिद्ध न
होता। इस शील का आवश्यक अङ्ग शरणागत वत्सलता को रख
गोस्वामीजी ने लोकधर्म की बराबरी में व्यक्तिधर्म को उचित महत्त्व दिया

सामञ्जस्य की भावना ही गोस्वामीजी के जीवन का उद्देश्य मा
होता है। शैवमत के साथ वैष्णवमत का, नामरूप पक्ष के साथ आध्यात्मि
ज्ञानवाद एवं भक्तिवाद का तथा इन सब का, वेदविहित स्मृत्यनुमोदि
धर्म के साथ सुन्दर सामञ्जस्य कर बताना गोस्वामीजी का ही कार्य था।

चरित्रचित्रण, प्रबन्धनिर्वाह, देशकाल, बाह्यदृश्य चित्रण, अलं
विधान, उक्तिवैचित्र्य, रस, ध्वनि आदि सब काव्याङ्ग इनके काव्यों में

कौशल एवं चमत्कृत चातुर्य के साथ पाये जाते हैं। जीवन की धार्मिक, पारिवारिक, नैतिक आदि सभी दशाओं, अन्तर्जगत एवं वहिर्जगत, भक्ति, ज्ञान, प्रेम व वैराग्य का इन्होंने उपयुक्त वर्णन किया है। चरित्र-चित्रण में जो आदर्श प्रस्तुत किया है, वह अद्वितीय है। भरत, लक्ष्मण, राम, दशरथ, मन्थरा, कैकेयी, सीता, कौशल्या, सुलोचना, रावण, मेघनाद, सब सजीव से मालूम होते हैं। जिस प्रकार राम और सीता अपनी सात्विकता में महान् हैं उसी प्रकार रावण और मेघनाद अपनी तामसिक वृत्ति में अद्वितीय हैं। इनके संवादों में नाट्य-तत्त्व भरा रहता है। वाह्य दृश्यों के वर्णन में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रहता है। उनके द्वारा वस्तु-तत्त्व की बेतुकी व्यञ्जना करना इनका स्वभाव नहीं था। रामायण में सरस एवं मार्मिक प्रसंगों का चुनाव इनकी भावुकता का परिचायक है। वे प्रसंग निम्नलिखित हैं :—

(१) पुष्पवाटिका-प्रसंग—जो प्रसंग प्रसन्न राघवनाटक से लिया गया है।

(२) भरत मिलाप—(चित्रकूट में)।

(३) राम, लक्ष्मण, सीता का नंगे पैरों वन को जाना।

(४) सीता को राम की मुद्रिका-प्राप्ति।

(५) लक्ष्मण-शक्ति प्रसंग।

(६) भरत प्रतीक्षा।

इनकी सरसताओं के विषय में स्थानाभाव से कुछ कहा नहीं जा सकता। "चित्रकूट में भरतमिलाप" जो इस संग्रह में लिया है, उसकी भावुकता पर विचार कीजिये। समाज की विभिन्न श्रेणियों के सम्बन्ध का इतना शिष्ट वर्णन विश्व-साहित्य में अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। पं० रामचन्द्र शुक्ल इन सम्बन्धों को स्पष्ट करते हैं—

(१) राजा-प्रजा का सम्बन्ध, प्रजा भरत के पीछे-पीछे प्रेमवश चित्रकूट तक जाती है।

(२) भ्रातृप्रेम—राम-भरत का। यह तो सर्वोपरि है ही।

(३) आचार्यों के प्रति श्रद्धा, राम-भरत का आचार्यों के प्रति औ
संकोच।

(४) तीनों माताओं से समान भाव से मिलना।

(५) जानकी के पिता (जनकराज) का पति के साथ कष्ट उ
वाली पुत्री पर हर्ष प्रकट करना।

(६) राम-भरत का जनक को पिता के स्थान पर मध्यस्थ बना
उभयपक्ष के शील का परिचायक है।

(७) सीता का माता के पास राजसी ठाठ की अपेक्षा पति के स
तपस्वी की तरह रात काटने की इच्छा रखना तथा संकोच
कारण उसे नहीं कहना।

(८) सीता का कौशल्यादि के साथ पूज्य एवं सेवा का भाव।

(९) राजन्य वर्ग तथा ब्राह्मण वर्ग के अन्योन्य के प्रति सद्भाव।

(१०) केवट का ऋषि को दूर से प्रणाम करना, अतः उनका
निःसङ्कोच गले लगा लेना।

(११) वन के किरातादि लोगों का अयोध्यावासियों के प्रति
वर्ताव।

इस प्रकार भरत-भेंट के चित्रकूट वाले प्रसंग में गोस्वामीजी ने जि
अलौकिक रसों का सन्निवेश किया है वे वर्णनातीत है। वात्सल्य रस
यद्यपि सूर उस्ताद माने जाते हैं, तथापि कवितावली के जो सात सा
वात्सल्यपूर्ण छन्द इस संग्रह में हैं उन्हें पढ़कर कौन एकबारगी
धन्य न कह उठेगा। अयोध्याकाण्ड कवितावली के अन्तर्गत
विन्ध्यवासियों के सहधर्मिणी के अभाव में गोस्वामीजी ने हास्य
सहानुभूति बतलाई है उसे पढ़ कर कौन नहीं मुस्करा उठेगा। हास्य
आलम्बन बहुधा "दूसरों की मूर्खता" होती है तथा हँसने वालों
मनोरंजन के साथ ही किसी व्यक्ति के हृदय पर—जिसे लक्ष्य कर
जाता है—वाण से छिद जाते हैं। अतः यह ध्यान रखना चाहिये कि
से किसी का दिल न दुखे। गोस्वामीजी की सुरुचि का प्रमाण यही पर्या

होगा कि हम यदि अपने को विन्ध्यवासी तपस्वी समझ लें तो हमें लक्ष्य कर किये गये इस हास्य का हम स्वयं आनन्द उठा सकेंगे।

कला-पक्ष—

यद्यपि तुलसीदासजी ने स्वयं कहा है कि 'कवित्त विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे' तथापि वे साहित्य के कला-पक्ष से अनभिज्ञ न थे। भाव-पक्ष और कला-पक्ष का जैसा सुन्दर समन्वय तुलसी में मिलता है वैसा अन्यत्र खोजने पर भी कठिनता से मिलेगा। उसका शब्द-चयन उपयुक्त है। भाषा भावानुसारिणी है। उपमाएँ हमारे सामने चित्र से उपस्थित कर देती हैं। उनकी कविता में अलंकार स्वयं ही चले आते हैं; वे प्रयत्न से नहीं लाये गये हैं। तुलसी ने अलंकारों का प्रयोग केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिये नहीं किया वरन् भावों के स्पष्टीकरण तथा उनको तीव्रता प्रदान करने के लिये रखा है। गीतावली और विनयपत्रिका के पद राग-रागनियों में बैठे हुए हैं। कविता करना उनका ध्येय न था। कविता उनके लिये साधन मात्र थी फिर भी काव्य के सभी अङ्ग और सभी उपकरण उनकी रचनाओं में वर्तमान हैं।

———

मङ्गल सगुन होंहि सब काहू। फरकहिं सुखद बिलोचन बाहू।
भरतहि सहित समाज उछाहू। मिलिहहिं राम मिटिहि दुखदाहू।
करत मनोरथ जस जिय जाके। जाहिं सनेहसुधा सब छाके।
सिथिल अंग पग मग डग डोलहिं। बिह्वल बचन प्रेम बस बोलहिं।
राम सखा तेहि समय देखावा। सैलसिरोमनि सहज सुहावा।
जासु समीप सरित-पय-तीरा। सीयसमेत बसहिं दोउ बीरा।
देखि करहिं सब दण्डप्रनामा। कहि जय जानकिजीवन रामा।
प्रेममगन अस राजसमाजू। जनु फिरि अवध चले रघुराजू।

दो०—भरत प्रेम तेहि समय जस, तस कहि सकइ न सेषु।
कविहि अगम जिमि ब्रह्मसख, अह मम-मलिन-जनेषु॥

सकलसनेह सिथिल रघुवर के। गये कोस दुइ दिनकर ढरके।
जल थल देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवन रघुनाथ पिरीते।
उहाँ रामु रजनीअवसेषा। जागे सीय सपन अस देखा।
सहित समाज भरत जनु आये। नाथ वियोग ताप तन छाये।
सकल मलिनमन दीन दुखारी। देखी सासु आन अनुहारी।
सुनि सियसपन भरे जल लोचन। भये सोचबस सोच बिमोचन।
लषन सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाह सुनाइहि कोई।
अस कहि बन्धु समेत नहाने। पूजि पुरारि साधु सनमाने।

छन्द—सनमानि सुर मुनि वृन्द बैठे उतर दिसि देखत भये॥
नभ धूरि खग मृग भूरि भागे विकल प्रभु आस्रम गये॥
तुलसी उठे अवलोकि कारनु काह चित सचकित रहे॥
सब समाचार किरात कोलन्हि आइ तेहि अवसर कहे॥

सो०—सुनत सुमङ्गल बैन, मन प्रमोद तन पुलक भर।
सरद सरोरुह नैन, तुलसी भरे सनेह जल॥

बहुरि सोचवस भे सियरमनू। कारन कवन भरत आगमनू॥
एक आइ अस कहा बहोरी। सेन संग चतुरङ्ग न थोरी॥
सो सुनि रामहि भा अति सोचू। इत पितुवचन उत बंधुसंकोचू॥
भरत सुभाय समुझि मन माहीं। प्रभुचित हितथित पावत नाहीं॥
समाधान तव भा यह जाने। भरत कहे महँ साधु सयाने॥
लषन लखेउ प्रभु-हृदय-खभारू। कहत समयसम नीति बिचारू॥
बिनु पूछे कछु कहउँ गोसाईं। सेवक समय न ढीठ ढिठाई॥
तुम्ह सर्वज्ञ सिरोमनि स्वामी। आपनिसमुझिकहउँ अनुगामी॥

दो०—नाथ सुहृदय सुठि सरलचित, सील-सनेह-निधान।
सब पर प्रीति प्रतीत जिय, जानिय आपु समान॥

विषयी जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोहबस होहिं जनाई॥
भरत नीतिरत साधु सुजाना। प्रभु-पद-प्रेम सकल जग जाना॥
तेइ आज राजपद पाई। चले धरम मरजाद मेटाई॥
कुटिल कुबन्धु कुअवसर ताकी। जानि राम बनवास एकाकी॥
करि कुमन्त्र मन साजि समाजू। आये करइ अकंटक राजू॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आये दल बटोरि दोउ भाई॥
जौं जिय होति न कपट कुचाली। केहिसोहातिरथ-वाजि-गजाली॥
भरतहि दोष देइ को जाये। जग बौराइ राजपद पाये॥

दो०—ससि गुरु-तिय गामी नहुष, चढ़ेउ भूमि-सुर-जानि।
लोक वेद ते बिमुख भा, अधम न बेन समान॥

सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥
भरत कीन्ह यह उचित उपाऊ। रिपु रिन रंच न राखब काऊ॥
एक कीन्ह नहिं भरत भलाई। निदरे राम जानि असहाई॥
समुझि परहि सोउ आजविसेखी। समर सरोष राजमुख पेखी॥
इतना कहत नीतिरस भूला। रन-रस विटप पुलक मिस फूला॥
प्रभुपद बन्दि सीस रज राखी। बोले सत्य सहज बलु भाखी॥

अनुचित नाथ न मानव मोरा। भरत हमहिं उपचरा न थोरा॥
कहँ लगि सहिय रहियमन मारे। नाथ साथ धनु हाथ हमारे॥
दो०—छत्रिजाति रघु-कुल-जनम, राम अनुज जग जान।
लातहुँ मारे चढ़त सिर, नीच को धूरि समान॥
उठि कर जोर रजायसु माँगा। मनहु वीर रस सोवत जागा॥
बाँधि जटा सिरकसिकटिभाथा। साज सरासन सायक हाथा॥
आज राम सेवक जस लेऊँ भरतहिं समर सिखाव देऊँ॥
रामनिरादर कर फल पाई। सोवहु समरसेज दोउ भाई॥
आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू॥
जिमि करि-निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसेहि भरतहिं सेन समेता। सानुज निदरि निपातऊँ खेता॥
जौं सहाय कर शंकर आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥
दो०—अति सरोष भाये लषन, लखि सुनि सपथ प्रमान।
सभय लोक सब लोकपति, चाहत भभरि भगान॥
जग भयमगन गगन भइ बानी। लषन-बाहु बल बिपुल बखानी॥
तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा। को कहि सकइ को जाननिहारा॥
अनुचित उचित काज कछु होऊ। समुझि करिय भलकह सबकोऊ॥
सहसा करि पाछे पछिताही। कहहि बेद बुध ते बुध नाहीं॥
सुनि सुरबचन लषन सकुचाने। राम सीय सादर सनमाने॥
कही तात तुम्ह नीति सुहाई। सब तें कठिन राजपद भाई॥
जो अंचवत मातहि नृप तेई। नाहिं न साधु सभा जेहि सेई॥
सुनहु लषन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥
दो०—भरतहि होइ न राजमद, विधि हरि-हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजीसीकरनि, छीरसिंधु विनसाइ॥
तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई। गगन मगन मकु मेघहि मिलई॥
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी। सहज छमा बरु छाड़इ छोनी॥

मसक फूँक बरु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमद भरतहि आई॥
लषन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥
सगुनछीर अवगुनजल ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥
भरत हंस रवि-बंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उजियारी॥
कहत भरत-गुन-सील-सुभाऊ। प्रेमपयोधि मगन रघुराऊ॥

दो०—सुनि रघुबर बानी बिबुध, देखि भरत पर हेतु।
सकल सराहत राम सो, प्रभु को कृपानिकेतु॥

जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरमधुर धरनि धरत को॥
कबि कुल अगम भरत-गुन-गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा॥
लषन राम सिय सुनि सुरबानी। अति सुख लहेउ न जाइ बखानी॥
इहाँ भरत सब सहित सुहाये। मन्दाकिनी पुनीत नहाये॥
सरित समीप राखि सब लोगा। माँगि मातु-गुरु-सचिव नियोगा॥
चले भरत जहँ सियरघुराई। साथ निषादनाथ लघुभाई॥
समुझि मातु करतब सकुचाहीं। करत कुतर्क कोटि मन माहीं॥
राम लषन-सिय सुन मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहि तजि ठाऊँ॥

दो०—मातु मते महँ मानि मोहि, जो कछु कहहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं, समुझि आपनी ओर॥

जो परिहरहिं मलिन मन जानी। जौं सनमानहिं सेवक मानी॥
मोरे सरन राम की पनहीं। राम सुस्वामि दोष सब जनहीं॥
जगजसभाजन चातक मीना। नेम प्रेम निज निपुन नबीना॥
अस मन गुनत चले मग जाता। सकुच सनेहु सिथिल सब गाता॥
फेरति मनहिं मातुकृत खोरी। चलति भगतिबल धीरजधोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥
भरतदशा तेहि अवसर कैसी। जलप्रवाह जल अलि-गति-जैसी॥
देखि भरत कर सोच सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥

दो०—लगे होन मंगल सगुन, सुनि गुनि कहत निषाद।
मिटहि सोच होइहि हरष, पुनि परिनाम विषाद॥

सेवकबचन सत्य सब जाने। आस्रम निकट जाय नियराने॥
भरत दीख बन सैल-समाजू। मुदित छुदित जनु पाइ सुनाजू॥
ईति भीत जनु प्रजा दुखारी। त्रिबिध ताप पीड़ित ग्रह मारी॥
जाइ सुराज सुदेस सुखारी। होहि भरत गति तेहि अनुहारी॥
रामबास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
सचिव बिराग बिबेकु नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥
भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुन्दर रानी॥
सकल अंग सम्पन्न सुराऊ। राम चरन आस्रित चित चाऊ॥

दो०—जीत मोह-महिपाल दल, सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राजु पुर, सुख सम्पदा सुकाल॥

बन प्रदेश मुनि बास घनेरे। जनु पुर नगर गाउँ गन खेरे॥
बिपुल बिचित्र बिहग मृग नाना। प्रजा समाज न जाइ बखाना॥
खगहा करि हरि बाघ बराहा। देखि महिष बृष साज सराहा॥
बयरु बिहाय चरहिं इक संगा। जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा॥
झरना झरहिं मत्तगज गाजहिं। मनहुँ निसान बिबिध बिधि बाजहिं॥
चक्क चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंजु मराल मुदित मन॥
अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा॥
बेलि बिटप तृन सफल सफूला। सब समाज मुद मंगल मूला॥

दो०—राम सैल सोभा निरखि, भरत हृदय अति प्रेम।
तापस तपफल पाइ जिमि, सुखी सिराने नेम॥

तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई॥
नाथ देखियहिं बिटपबिसाला। पाकरि जंबु रसाल तमाला॥
तिन्ह तरुबरन्ह मध्य बटु सोहा। मंजु बिसाल देखि मन मोहा॥
नील सघन पल्लव फल लाला। अविरल छाँह सुखद सब काला॥

मानहुँ तिमिर-अरुन-मय रासी। विरची विधि सकेलि सुषमासी ॥
एहि तरु सरित समीप गोसाईं। रघुवर परन-कुटी जहँ छाई ॥
तुलसी, तरुवर विविध सुहाये। कहुँ सिय पिय कहुँ लषन लगाये ॥
बटछाया बेदिका बनाई। सिय निज-पानि सरोज सुहाई ॥

दो०—जहाँ बैठि मुनि गन सहित, नित सिय राम सुजान।
सुनहिं कथा इतिहास सब, आगम निगम पुरान ॥

सखा वचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी ॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सादर सकुचाई ॥
हरषहिं निरखि राम-पद अंका। मानहुँ पारस पायेउ रंका ॥
रजसिरधरिहियनयनन्हिलावहिं। रघुवरमिलनसरिससुखपावहिं ॥
देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेम मगन मृग खग जड़जीवा ॥
सखहिं सनेह बिबस मग भूला। कहि सुपंथ सुर बरसहिं फूला ॥
निरखि सिद्ध साधक अनुरागे। सहज सनेहु सराहन लागे ॥
होय न भूतल भाउ भरत को। अचरसचरचरअचरकरत को ॥

दो०—प्रेम अमिअ मन्दरु विरह, भरत पयोधि गम्भीर।
मथि प्रगटे सुर साधु हित, कृपासिन्धु रघुबीर ॥

सखा समेत मनोहर जोटा। लखेउ न लषनसघन बनओटा ॥
भरत दीखि प्रभु आश्रम पावन। सकल सुमंगल-सदन सुहावन ॥
करत प्रवेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथ पावा ॥
देखे भरत लषन प्रभु आगे। पूछे बचन कहत अनुरागे ॥
सीस जटा कटि मुनिपट बाँधे। तून कसे कर सर धनु काँधे ॥
वेदी पर मुनि साधु समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू ॥
बलकल बसन जटिलतन स्यामा। जनु मुनि वेष कीन्ह रतिकामा ॥
कर कमलनि धनु सायक फेरत। जिय की जरनिहरतहँसि हेरत ॥

दो०—लसत मंजु मुनि मंडली, मध्य सीय रघुचन्द।
ज्ञान सभा जनु तनु धरे, भगति सच्चिदानन्द ॥

सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष-सोक सुख दुख-गन
पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं
बचन सप्रेम लषन पहिचाने। करत प्रनाम भरत जिय जाने
बन्धु सनेह सरस एहि ओरा। उत साहिब सेवा बरजोरा
मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई। सुकवि लषनमन की गति भनई
रहे राखि सेवा पर भारू। चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू
कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा
उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पटु कहुँ निषंग धनु तीरा

दो०—बरबस लिए उठाय उर, लाये कृपानिधान॥
भरत राम को मिलनि लखि, बिसरे सबहिं अपान॥

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबि-कुल-अगम करम मन बानी
परम-प्रेम-पूरन दोउ भाई। मनबुधिचित अहिमित बिसराई
कहहु सुप्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई
कबिहिं अरथ आखरबल साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा
अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु विधि हरि-हर को
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती। बाज सुराग कि गाँडर ताँती
मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की। सुरगन सभय धकधकी धरकी
समुझाये सुरगुरु जड़ जागे। बरषि प्रसून प्रसंसन लागे

दो०—मिलि सप्रेम रिपुसूदनहि, केवट भेंटेउ राम।
भूरि भाय भेटे भरत, लछिमन करत प्रनाम॥

भेंटेउ लषन ललकि लघु भाई। बहुरि निषाद लीन्ह उर लाई
पुनि मुनिगन दुहुँ भाइन्ह बन्दे। अभिमत आसिष पाइ अनन्दे
सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय-पद पदमु परागा
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाये। सिर करकमल परसि बैठाये
सीय असीस दीन्ह मन माँहीं। मगन सनेह देह सुधि नाहीं
सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता

कोउ कछु कहइ न कोउ कछु पूछा। प्रेम भरा मन निजगति छूछा॥
तेहि अवसर केवट धीरज धरि। जोरि पानि बिनवत प्रनाम करि॥

दो०—नाथ साथ मुनि नाथ के, मातु सकलपुर लोग।
सेवक सेनप सचिव सब, आये विकल वियोग॥

सीलसिन्धु सुनि गुरु आगमनू। सिय समीप राखे रिपुदमनू॥
चले सवेग राम तेहि काला। धीर-धरम-धुर दीनदयाला॥
गुरुहिं देखि सानुज अनुरागे। दण्ड प्रनाम करन प्रभु लागे॥
मुनिवर धाय लिये उर लाई। प्रेम उमग भेंटे दोउ भाई॥
प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्हें दूरि तें दण्डप्रनामू॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुटत सनेह समेटा॥
रघुपति भगति सुमङ्गल मूला। नभ सराहि सुर बरषहिं फूला॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बढ़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥

दो०—जेहि लखि लषनहुँ तें अधिक, मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीता पति-भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ॥

आरत लोग राम सब जाना। करुनाकर सुजान भगवाना॥
जो जेहि भाय रहा अभिलाखी। तेहि-तेहि कै तसि-तसि रुख राखी॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्ह दूरि दुख-दारुन दाहू॥
यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रवि छाँहीं॥
मिलि केवटहिं उमगि अनुरागा। पुरजन सकल सराहहिं भागा॥
देखी राम दुखित महतारी। जनु सुबेलि अवली हिम मारी॥
प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभाय भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी। कालकरम बिधि सिर धरि खोरी॥

दो०—भेंटी रघुबर मातु सब, करि प्रबोध परितोष।
अंब ईस आधीन जग, काहू न देइय दोष॥

गुरु-तिय-पद-बंदे दुहुँ भाई। सहित बिप्र-तिय जे संग आई॥
गंग-गौरि सम सब सनमानी। देहि असीस मुदित मृदुबानी॥

गहि पद लगे सुमित्रा अङ्का। जनु भेंटी संपति अति रङ्का।
पुनि जननी चरननि दोउ भ्राता। परे प्रेम व्याकुल सब गाता।
अति अनुराग अंब उर लाये। नयन सनेह सलिल अन्हवाये।
तेहि अवसर कर हरष विषादू। किमि कवि कहै मूक जिमि स्वादू।
मिलि जननिहिं सानुज रघुराऊ। गुरुसन कहेउ कि धारिय पाऊ।
पुरजन पाइ मुनीस नियोगू। जल थल तकि तकि उतरेउ लोगू।

दो०—महिसुर मन्त्री मातु गुरु, गने लोग लिये साथ।
पावन आस्रम गमनु किय, भरत लषन रघुनाथ॥

सीय आइ मुनिवर पग लागी। उचित असीस लही मनमाँगी।
गुरपतिनिहिं मुनितियन्ह समेता। मिली प्रेम कहि जाइ न जेता।
बन्दि बन्दि पग सिय सब ही के। आसिर बचन लहे प्रिय जी के।
सासु सकल जब सीय निहारी। मूँदे नैन सहमि सुकुमारी।
परी वधिक बस मनहुँ मराली। काह कीन्ह करतार कुचाली।
तिन्ह सिय निरखि निपट दुख पावा। सो सबु सहिअ जो दैव सहावा।
जनक सुता तब उर धरि धीरा। नील-नलिन-लोचन-भरि नीरा।
मिली सकल सासन्ह सिय जाई। तेहि अवसर करुना महि छाई।

दो०—लागि लागि पग सबनि सिय, भेंटत अति अनुराग।
हृदय असीसहि प्रेमबस, रहिहहु भरी सुहाग॥

बिकल सनेह सीय सब रानी। बैठन सबहिं कहेउ गुरु ग्यानी।
कहि जगगति मायिक मुनिनाथा। कहे कछुक परमारथ गाथा।
नृप कर सुर-पुर-गमनु सुनावा। सुनि रघुनाथ दुसह दुखु पावा।
मरन हेतु निज नेह विचारी। भे अति विकल धीर-धुर-धारी।
कुलिस कठोर सुनत कटु बानी। बिलपति लषन सीय सब रानी।
सोक बिकल अति सकल समाजू। मानहुँ राजु अकाजेउ आजू।
मुनिवर बहुरि राम समुझाये। सहित समाज सुसरित नहाये।
व्रत निरंबु तेहि दिन प्रभु कीन्हा। मुनहु कहे जलु काहु न लीन्हा।

दो०—भोर भये रघुनन्दनहिं, जो मुनि आयसु दीन्ह ।
श्रद्धा-भगति समेत प्रभु, सो सब सादर कीन्ह ॥

करि पितु क्रिया वेद जसि बरनी । भे पुनीत पातक-तम तरनी ॥
जासु नाम पावक अघ तूला । सुमिरत सकल समंगल मूला ॥
सुद्ध सो भयउ साधु संगत अस । तीरथ आवाहन सुरसरि जस ॥
सुद्ध भये दुइ बासर बीते । बोले गुरुसन राम पिरीते ॥
नाथ लोग सब निपट दुखारी । कन्द-मूल-फल-अम्बु-अहारी ॥
सानुज भरतु सचिव सब माता । देखि मोहि पल जिमि जुग जाता ॥
सब समेत पुर धारिय पाऊ । आप इहाँ अमरावति राऊ ॥
बहुत कहेउँ सब कियउँ ढिठाई । उचित होय तसि करिय गोसाँई ॥

दो०—धर्मसेतु करुनायतन, कस न कहहु अस राम ।
लोग दुखित दिन दुइ दरस, देखि लहहुँ विश्राम ॥

राम वचन सुनि सभय समाजू । जनु जलनिधि महँ बिकल जहाजू ॥
सुनि गुरुगिरा सुमंगल मूला । भयउ मनहुँ मारुत अनुकूला ॥
पावन पय तिहुँ काल नहाहीं । जो बिलोकि अघ ओघ नसाहीं ॥
मंगलमूरति लोचन भरि भरि । निरखहिं हरषि दंडवत करि करि ॥
राम सैल-बन देखन जाहीं । जहँ सुख सकल कतहुँ दुख नाहीं ॥
झरना झरहिं सुधासम बारी । त्रिविधि ताप हर त्रिविधि बयारी ॥
विटप बेलि तृन अगनित जाती । फल प्रसून पल्लव बहु भाँती ॥
सुन्दर सैल सुखद तरु छाहीं । जाइ बरनि बन छवि केहि पाहीं ॥

दो०—सरन सरोरुह जल-बिहंग, कूजत गुंजत भृङ्ग ।
बैर बिगत बिरहत विपिन, मृग बिहंग बहुरंग ॥

कोल किरात भिल्ल बनबासी । मधु सुचि सुन्दर स्वाद सुधा सी ॥
भरि भरि परन पुटीं रुचि रूरी । कन्द मूल फल अंकुर जूरी ॥
सबहिं देहि करि बिनय प्रनामा । कहि-कहि स्वाद भेद गन नामा ॥
देहिं लोग बहु मोल न लेहीं । फेरत राम दोहाई देहीं ॥

कहहिं सनेह-मगन मृदु बानी। मानत साधु प्रेम पहिचानी।
तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा। पावा दरसनु रामप्रसादा।
हमहिं अगम अति दरस तुम्हारा। जस मरुधरनि देव-धुनि धारा।
राम कृपालु निषाद नेवाजा। परिजन प्रजउ चहिअ जस राजा।

दो०—यह जिय जान संकोच तजि, करिय छोहु लखि नेहु।
हमहिं कृतारथ करन लगि, फल तृन अंकुर लेहु॥

तुम्ह प्रिय पाहुन बन पगु धारे। सेवा जोग न भाग हमारे।
देव कहा हम तुमहिं गोसाईं। ईंधन पात किरात मिताई।
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेंहि न बासन बसन चोराई।
हम जड़ जीव जीवगन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती।
पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पटकटि नहिं पेट अघाहीं।
सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ। यह रघुनन्दन दरस प्रभाऊ।
जब तें प्रभु पद-पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे।
बचन सुनत पुरजन अनुरागे। तिन्ह के भाग सराहन लागे।

छन्द—लागे सराहन भाग सब अनुरागे बचन सुनावहीं।
बोलनि मिलनि सिय राम चरन सनेह लखि सुख पावहीं।
नरनारि निदरहिं नेहु निज सुनि कोल भिल्लन की गिरा।
तुलसी कृपा रघु-बंस मनि की लोह लै नौका तिरा।

सो०—बिहरहिं बन चहुँ ओर, प्रति छिन प्रमुदित लोग सब।
जल ज्यों दादुर मोर, भए पीन पावस प्रथम॥

पुरजन नारि मगन अति प्रीती। बासर जाहिं पलक सम बीती।
सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई।
लखा न मरम राम बिनु काहू। माया सब सियमाया माहू।
सीय सासु सेवा बस कीन्ही। तिन्ह लहि सुख सिख-आसिष दीन्ही।
लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई।
अवनि जमहि जाँचत कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई।

लोकहु वेद विदित कवि कहहीं। राम विमुख थलु नरक न लहहीं॥
यह संसउ सब के मन माहीं। राम गवनु विधि अवध कि नाहीं॥

दो०—निसि न नींद नहिं भूख दिन, भरत बिकल सुचि सोच।
नीच कीच विच मगन जस, मीनहिं सलिल संकाच॥

कीन्हि मातु मिस काल कुचाली। ईति भीति जस पातक साली॥
केहि बिधि होइ राम अभिषेकू। मोहि अव कलत उपाय न एकू॥
अवखिफिरहिं गुरु आयसु मानी। मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी॥
मातु कहेहु वहुरहि रघुराऊ। राम जननि हठ करबि कि काऊ॥
मोहि अनुचर कर केतिक वाता। तेहि महँ कुसमय बाम बिधाता॥
जौं हठ करउँत निपट कुकरमू। हरगिरि ते गुरु सेवक धरमू॥
एकउ जुगति न मन ठहरानी। सोचत भरतहिं रैनि बिहानी॥
प्रात नहाइ प्रभुहिं सिर नाई। बैठत पठये रिषय बोलाई॥

दो०—गुरु पद-कमल प्रनाम करि, बैठे आयसु पाइ।
विप्र महाजन सचिव सब जुरे सभासद आइ॥

बोले मुनिबर समय समाना। सुनहु सभासद भरत सुजाना॥
धरम धुरीन भानु-काल भानू। राजा राम स्ववस भगवानू॥
सत्यसंध पालक स्रुतिसेतू। राम जनम जग मंगल हेतू॥
गुरु-पितु-मातु-बचन अनुसारी। खल-दल-दलन देव-हितकारी॥
नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। काउ न रामसम जान जथारथ॥
विधिहरिहर ससि रवि दिसिपाला। माया-जीव करम कुलि काला॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्ध निगमागम गाई॥
करि विचार जिय देखहु नीके। रामरजाइ सीस सबही के॥

दो०—राखें राम रजाइ रुख, हम सब कर हित होइ।
समुझि सयाने करहुँ अब सब मिलि संमत सोइ॥

सब कहँ सुखद राम अभिषेकू। मंगल-मोद मूल मग एकू॥
केहि विधि अवध चलहिं रघुराऊ। कहहु समुझि सोइ करिय उपाऊ॥

सब सादर सुनि मुनिबर बानी। नय परमारथ-स्वारथ-सानी
उतरु न आव लोग भये भोरे। तब सिरु नाइ भरत कर जोरे
भानुबंस भये भूप घनेरे। अधिक एक तें एक बड़ेरे
जनम हेतु सब कहँ पितु-माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता
दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जग जाना
सो गोसाइँ विधि गत जेहि छेंकी। सकइ को टारि टेकु जो टेकी

दो०—बूझिअ मोहि उपाउ अब, सो सब मोर अभागु।
सुनि सनेह-मय-वचन गुर, उर उमँगा अनुरागु॥

तात बात फुरि राम कृपाहीं। रामबिमुख सिधि सपनेहु नाहीं
सकुचउँ तात कहत एक बाता। अरध तजहिं बुध सरबस जाता
तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिहिं लषन सीय रघुराई
सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद-परिपूरन गाता
मन प्रसन्न तनु तेज विराजा। जनु जिय राउ राम भये राजा
बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी। सम दुख सुख सब रोवहिं रानी
कहहिं भरत मुनि कहा सो कीन्हे। फल जग जीवन अभिमत दीन्हे
कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू

दो०—अन्तरजामी राम सिय, तुम सरबज्ञ सुजान।
जौं फुर कहहु त नाथ निज, कीजिअ वचन प्रमान॥

भरत वचन सुनि देख सनेहू। सभा सहित मुनि भए बिदेहू
भरत-महा-महिमा जलरासी। मुनि-मत ठाढ़ि तीर अबला-सी
गा चह पार जतनु हिय हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा
और करहिं को भरत बड़ाई। सर सीपि की सिंधु समाई
भरत मुनिहिं मन भीतर भाये। सहित समाज राम पहिं आये
प्रभु प्रनाम करि दीन्ह सुआसन। बैठे सब सुनि मुनि अनुसासन
बोले मुनिवर बचन बिचारी। देस काल अवसर अनुहारी
सनहुँ राम सरबज्ञ सुजाना। धरम-नीति-गुन-ज्ञान-निधाना

दो०—सबके उर अन्तर बसहु, जानहु भाव कुभाउ।
पुरजन-जननी-भरत हित, होय सो कहिअ उपाउ॥

आरत कहहिं बिचारु न काऊ। सूझ जुआरिहिं आपन दाऊ॥
सुनि मुनि बचन कहत रघुराऊ। नाथ तुम्हारेहिं हाथ उपाऊ॥
सब कर हित रुख राउर राखे आयसु किये मुदित फुर भाखे॥
प्रथम जो आयसु मो कहँ होई। माथें मानि करौं सिख सोई॥
पुनि जेहि कहँ जस कहब गोसाईं। सो सब भाँति करिहिं सेवकाईं॥
कह मुनि राम सत्य तुम भाखा। भरत सनेहु बिचार न राखा॥
तेहि तें कहउँ बहोरि बहोरी। भरत-भगति-बस भइ मति मोरी॥
मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी॥

दो०—भरत बिनय सादर सुनिय, करिय बिचार बहोरि।
करब साधुमत लोकमत, नृपनय निगम निचोरि॥

गुरु अनुराग भरत पर देखी। राम हृदय आनन्द बिसेखी॥
भरतहिं धरम धुरंधर जानी। निज सेवक तन मानस-बानी॥
बोले गुरु—आयसु—अनुकूला। बचन मंजु मृदु मंगल-मूला॥
नाथ सपथ पितु चरन दोहाई। भइय न भुअन भरत सम भाई॥
जे गुरु-पद-अम्बुज-अनुरागी। ते लोकहुँ वेदहुँ बड़भागी॥
राउर जा पर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥
लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बड़ाई॥
भरतु कहहिं सोइ किये भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥

दो०—तब मुनि बोले भरत सन, सब संकोच तज तात।
कृपासिंधु प्रिय बंधु सम, कहहु हृदय कै बात॥

सुनि मुनि बचन राम रुख आई। गुरु साहिब अनुकूल अघाई॥
लखि अपने सिर सब छरुभारू। कहि न सकहिं कछु करहि बिचारू॥
पुलक शरीर सभा भये ठाढ़े। नीरज नयन नेह जल बाढ़े॥
कहब मोर मुनिनाथ निबाहा। एहि तें अधिक कहौं मैं काहा॥

मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काउ॥
मो पर कृपा सनेहु बिसेखी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
सिसुपन तें परिहरेउ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥

दो०—महूँ सनेह संकोच बस, सनमुख कही न बैन।
दरसन तृषित न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन॥

बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा॥
यहउ कहत मोहि आजु न सोभा। अपनी समुझि साधु सुचि कोभा॥
मातु मंदि मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥
फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि संबुक ताली॥
सपनेहु दोस कलेस न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू॥
बिनु समुझे निज-अघ-परिपाकू। जारिउँ जाय जननि कहि काकू॥
हृदय हेरि हारेउँ सब ओरा। एकहि भाँति भलेहि भल मोरा॥
गुर गोसाँई साहिब सियरामू। लागत मोहि नीक परिनामू॥

दो०—साधु-सभा-गुरु प्रभु-निकट, कहउँ सुथल सतिभाउ।
प्रेम प्रपंच कि झूठ फुर, जानहिं मुनि रघुराउ॥

भूपति मरन प्रेम पनु राखी। जननी कुमति जगत सब साखी॥
देखि न जाहिं बिकल महतारी। जरहिं दुसह जर पुर-नर नारी॥
महीं सकल अनरथ कर मूला। सो सुनि समुझि सहेउँ सबसूला॥
सुनि बन गवनु कीन्ह रघुनाथा। करि मुनिवेष लषन-सिय-साथा॥
बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाये। संकरु साखि रहेउँ एहि घाये॥
बहुरि निहारि निषाद सनेहू। कुलिस कठिन उर भयउ न बेहू॥
अब सबु आँखिन्ह देखेउँ आई। जिअत जीव जड़ सबइ सहाई॥
जिन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिषु तामस तीछी॥

दो०—तेइ रघुनन्दन लषन सीय, अनहित लागे जाहि।
तासु तनय तजि दुसह दुख, दैव सहावइ काहि॥

सुनि अति बिकल भरत बर-बानी। आरति-प्रीति बिनय-नय-सानी॥
सोक मगन सब सभा खभारू। मनहुँ कमलबन परेउ तुषारू॥
कहि अनेक बिधि कथा पुरानी। भरत प्रबोध कीन्ह मुनि ज्ञानी॥
बोले उचित बचन रघुनन्दू। दिनकर-कुल कैरव-बन-चन्दू॥
तात जाय जिय करहु गलानी। ईस अधीन जीव गति जानी॥
तीन काल त्रिभुवन मत मोरे। पुन्यसिलोक तात तर तोरे॥
उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोक परलोक नसाई॥
दोसु देहिं जननिहिं जड़ तेई। जिन गुर-साधु-सभा नहिं सेई॥

दो०—मिटिहहिं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार।
लोक सुजस परलोक सुखु, सुमिरत नाम तुम्हार॥

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥
तात कुतर्क करहु जनि जाये। बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये॥
मुनि गन निकट बिहग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं॥
हित अनहित पसु पच्छिउ जाना। मानुष-तन-गुन-ज्ञान निधाना॥
तात तुम्हहि मैं जानउँ नीके। करउँ काह असमंजस जी के॥
राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेमपन लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि ते अधिक तुम्हार संकोचू॥
तापर गुरु मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहुँ चहहुँ सोई कीन्हा॥

दो०—मन प्रसन्न करि सकुचि तजि, कहहु करउँ सोइ आजु।
सत्य-सिन्धु-रघुबर-बचन, सुनि भा सुखी समाजु॥

सुर-गन सहित सभय सुरराजू। सोचहिं चाहत होत अकाजू॥
बनत उपाय करत कछु नाहीं। राम सरन सब के मन माहीं॥
बहुरि बिचारि परसपर कहहीं। रघुपति भगत-भगति बस अहहीं॥
सुधि करि अम्बरीष दुरबासा। भे सुर सरपति निपट निरासा॥
सहेसुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किये प्रगट प्रहलादा॥
लगि लगि कान कहहिं धुनि माथा। अब सुर काज भरत के हाथा॥

आन उपाय न देखिअ देवा। मानत रामु सु सेवक सेवा।
हियसप्रेमसुमिरहु सब भरतहि। निज गुन सील राम बस करतहि।

दो०—सुनि सुर पत सुरगुरु कहेउँ, भल तुम्हार बड़ भाग।
सकल सुमंगल मूल जग, भरत चरन अनुराग।

सीता-पति-सेवक-सेवकाई । काम-धेनु सम सरिस सहाई।
भरत भगति तुम्हरे मन आई। तजहु सोचु, बिधि बात बनाई।
देख देवपति भरत प्रभाऊ। सहज सभाउ विवस रघुराऊ।
मन थिर करहु देव डर नाहीं। भरतहिं जानि राम परिछाहीं।
सनि सुरगुरु सुर संमत सोचू। अन्तरजामी प्रभुहि संकोचू।
निज सिर भार भरत जिय जाना। करत कोटि विधि उर अनुमाना।
करि विचार मन दीन्हा टीका। राम रजायसु आपन नीका।
निजपन तजि राखेउ पन मोरा। छाहु सनेहु कीन्ह नहि थोरा।

दो०—कीन्ह अनुग्रह अमित अति, सब विधि सीतानाथ।
करि प्रनाम बोले भरत, जोरि जलज जुग हाथ॥

कहउँ कहावउँ का अब स्वामी। कृपा अम्बु निधि अन्तरजामी।
गुरु प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटीं मलिन मन कलपित सूला।
अपडर डरेउँ न सोच समूले। रबिहि न दोसु देव दिसि भूले।
मोर अभाग मात कुटिलाई। विधिगति विषम काल कठिनाई।
पाउँ रोपि सब मिलि मोहि घाला। प्रनतपाल पन आपन पाला।
यह नइ रीति न राउरि होई। लोकहुँ वेद बिदित नहिं गोई।
जग अनभल भल एक गोसाईं। कहिअ होइ भल कासु भलाई।
देव देव-तरु-सरिस सुभाऊ। सनमुख विमुख न काहुहि काऊ।

दो०—जाइ निकट पहिचान तरु, छाँह समनि सब सोच।
माँगत अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच॥

लखि सब विधि गुरु स्वामि सनेहू। मिटेउ छोभ नहिं मन सन्देहू।
अब करुनाकर कीजिअ सोई। जनहित प्रभु चित छोभ न होई।

जो सेवकु साहिबहिं संकोची। निज हितचहइ तासु मतिपोची ॥
सेवक हित साहिब-सेवकाई। करइ सकल सुखलोभ बिहाई ॥
स्वारथ नाथ फिरे सब ही का। किये रजाइ कोटिविधि नीका ॥
यह स्वारथ—परमारथ सारू। सकलसुकृतफलसुगतिसिंगारू ॥
देव एक बिनती सुनि मोरी। उचित होइ तस करब बहोरी ॥
तिलक सभाजु साजि सब आना। करिअ सुफल प्रभुजौंमनुमाना ॥

दो०—सानुज पठइअ मोहि बन, कीजिअ सबहिं सनाथ।
नातरु फेरिअहिं बन्धु दोउ, नाथ चलौं मैं साथ ॥

नातरु जाहिं बन तीनउ भाई। बहुरिअ सीय सहित रघुराई ॥
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुना सागर कीजिअ सोई ॥
देव दीन्ह सब मोहि अभारू। मोरे नीति न धरम बिचारू ॥
कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू। रहत न आरत के चित चेतू ॥
उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई ॥
अस मैं अवगुन उदधि अगाधू। स्वामि सनेह सराहित साधू ॥
अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा ॥
प्रभु-पद-सपथ कहउँ सतिभाऊ। जग मंगल हित एक उपाऊ ॥

दो०—प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि, जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करहिं सबु,मिटिहि अनट अवरेब ॥

भरत बचन सुचि सुनि सुर हरषे। साधु सराहिसुमन सुर बरषे ॥
असमंजस लख अवध निवासी। प्रमुदित मन तापस-बनबासी ॥
चुपहि रहे रघुनाथ संकोची। प्रभुगति देखि सभा सब सोची ॥
जनक दूत तेहि अवसर आये। मुनि बसिष्ठ सुनि बेगि बुलाये ॥
करि प्रनाम तिन्ह राम निहारे। बेष देखि भये निपट दुखारे ॥
दूतन्ह मुनिवर बूझी बाता। कहहु बिदेह भूप कुसलाता ॥
सुनि सकुचाइ नाइ महि माथा। बोले चरबर जोरे हाथा ॥
बूझब राउर सादर साईं। कुसल हेतु सो भयउ गोसाईं ॥

दो०—नाहिं त कौशलनाथ के, साथ कुसल गइ नाथ।
मिथिला अवध विशेष तें, जगु सब भयउ अनाथ॥

कोशलपति गति सुनि जनकौरा। भे सब लोक सोक बस बौरा॥
जेहि देखे तेहि समय विदेहू। नाम सत्य अस लाग न केहू॥
रानि कुचालि सुनत नरपालहि। सूझ न कछु जस मनि बिनु व्यालहि॥
भरत राज रघुबर-बन बासू। भा मिथिलेसहिं हृदय हराँसू॥
नृप बूझे बुध सचिव-समाजू। कहहु बिचारि उचित का आजू॥
समुझि अवध असमंजस दोऊ। चलिअ कि रहिअ न कह कछु कोऊ॥
नृपहिं धीर धरि हृदय विचारी। पठये अवध चतुर चर चारी॥
बूझि भरत गति भाऊ कुभाऊ। आयेहु बेगि न होइ लखाऊ॥

दो०—गये अवध चर भरत गति, बूझि देखि करतूति।
चले चित्रकूटहि भरत, चार चले तिरहूति॥

दूतन्ह आइ भरत कै करनी। जनक-समाज जथामति बरनी॥
सुनि गुरुपरिजन सचिव महीपति। भे सब सोच सनेह बिकल अति॥
धरि धीरज करि भरत बड़ाई। लिए सुभट साहनी बोलाई॥
घर पुर देस राखि रखवारे। हय गज रथ बहु जानि सँवारे॥
दुघरी साधि चले ततकाला। किय बिस्राम न मग महिपाला॥
भोरहिं आजु नहाई प्रयागा। चले जमुन उतरन सबु लागा॥
खबर लेनि हम पठये नाथा। तिन्ह कहि अस महि नायउ माथा॥
साथ किरात छसातक दीन्हे। मुनिवर तुरत बिदा चर कीन्हे॥

दो०—सुनत जनक आगवन सबु, हरषेउ अवध समाज॥
रघुनन्दनहिं संकोचु बड़, सोच बिवस सुरराज॥

गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहै केहि दूषन देई॥
अस मन आनि मुदित नर नारी। भयउ बहोरि रहब दिन चारी॥
एहि प्रकार गत बासर सोऊ। प्रात नहानि लागि सबु कोऊ॥
करि मज्जन पूजहि नर नारी। गनपत गौरि तिपुरारि तमारी॥

रमा-रमन-पद बन्दि बहोरी। बिनवहि अंजलि अंचल जोरी॥
राजा राम जानकी रानी। आनन्द अवधि अवध रजधानी॥
सुबस बसउ फिरि सहित समाजा। भरतहिं राम करहु जुबराजा॥
एहि सुख सुधा सींचि सब काहू। देव देहु जग-जीवन लाहू॥

दो०—गुरुसमाज भाइन्ह सहित, राम-राजु पुर होउ।
अछत राम राजा अवध मरिअ माँग सब कोउ॥

सुनि सनेहमय पुर जन बानी। निंदहिं जोग बिरति मुनि ज्ञानी॥
एहि बिधि नित्यकरम करि पुरजन। रामहिं करहिं प्रनाम पुलकितन॥
ऊँच नीच मध्यम नर नारी। लहहिं दरसु निजनिज अनुहारी॥
सावधान सब ही सनमानहिं। सकल सराहत कृपानिधानहिं॥
लरकाइहिं तें रघुबर बानी। पालत नीति प्रीति पहिचानी॥
सील-संकोच-सिन्धु रघुराऊ। सुमुख सुलोचन सरल सुभाऊ॥
कहत राम गुन गन अनुरागे। सब निज भाग सराहन लागे॥
हम सब पुन्यपुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे॥

दो०—प्रेममगन तेहि समय सब, सुनि आवत मिथिलेस।
सहित सभा संभ्रम उठेउ, रबि-कुल-कमल-दिनेस॥

भाइ-सचिव, गुर पुरजन-साथा। आगे गवन कीन्ह रघुनाथा॥
गिरिबर दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं॥
राम - दरस - लालसा - उछाहू। पथ-श्रम लेस कलेस न काहू॥
मन तह जहँ रघुबर वैदेही। बिनु मन-तन-दुख-सुखसुधिकेही॥
आवत जनकु चले एहि भाँति। सहित समाज प्रेम मति माती॥
आये निकट देखि अनुरागे। सादर मिलन परसपर लागे॥
लगे जनक मुनि जन-पद बंदन। रिषिन्ह प्रनाम कीन्ह रघुनंदन॥
भाइन्ह सहित राम मिलि राजहिं। चले लिवाइ समेत समाजहिं॥

दो०—आश्रम सागर सांत रस, पूरन पावन पाथ।
सेन मनहुँ करुना सरित, लिए जाहिं रघुनाथ॥

बोरित ज्ञान बिराग करारे। बचन ससोक मिलत नद नारे॥
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट-तरुवर कर भंगा॥
विषम विषाद तोरावति धारा। भय-भ्रम भँवर अवर्त अपारा॥
केवट बुधि विद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा॥
बनचर कोल किरात बिचारे। थकें बिलोकि पथिक हिय हारे॥
आश्रम उदधि मिली जब जाई। मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई॥
सोक विकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥
भूप - रूप - गुन-सील सराही। रोवहिं सोकसिंधु अवगाही॥
छन्द—अवगाहि सोकसमुद्र सोचहिं नारि नर व्याकुल महा।
देइ दोष सकल सरोष बोलहिं वाम बिधि कीन्हो कहा॥
सुर सिद्ध तापस जोगिजन मुनि देख दसा विदेह की।
तुलसी न समरथ कोउ जो तरि सकइ सरित सनेह की॥
सो०—किये अमित उपदेस, जहँ तहँ लोगन्ह मुनिबरन्ह।
धीरज धरिअ नरेस, कहेउ बसिष्ठ विदेह सन॥

जासु ज्ञान रवि भव निसि नासा। वचन किरन मुनि कमलबिकासा॥
तेहि कि मोह ममता निअराई। यह सिय राम-सनेह बड़ाई॥
विषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिविधि जीव जग बेद बखाने॥
राम-सनेह-सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू॥
सोह न राम प्रेम बिन ग्यानू। करन धार बिनु जिमि जलजानू॥
मुनि बहु विधि विदेह समुझाये। रामघाट सब लोग नहाये॥
सकल-सोक-संकुल नर नारी। सो बासर बीतेउ बिनु बारी॥
पसु खग मृगन्ह न कीन्ह अहारू। प्रियपरिजन कर कौन बिचारू॥
दो०—दोउ समाज निमिराज, रघुराज नहाने प्रात।
बैठे सब बट-विटप-तर, मन मलीन कृस गात॥
जे महिसुर दसरथ पुर वासी। जे मिथला-पति नगर-निवासी॥
हंस-बंस-गुरु जनक पुरोधा। जिन्ह जग मगु परमारथ सोधा॥

लगे कहन उपदेस अनेका। सहित धरम नय बिरति बिबेका॥
कौसिक कहि कहि कथा पुरानी। समुझाई सब सभा सुबानी॥
तब रघुनाथ कौसिकहि कहेऊ। नाथ कालि जल बिनु सब रहेऊ॥
मुनि कह उचित कहत रघुराई। गयउ बीत दिन पहर अढ़ाई॥
रिषि लखि कह तिरहुतिराजू। इहाँ उचित नहिं असन अनाजू॥
कहा भूप भल सबहिं सोहाना। पाइ रजायसु चले नहाना॥

दो०—तेहि अवसर फल फूल दल, मूल अनेक प्रकार।
लेइ आये बनचर बिपुल, भरि भरि काँवरि भार॥

कामद भे गिरि रामप्रसादा। अवलोकत अपहरत विषादा॥
सर सरिता बन भूमि बिभागा। जनु उमगत आनन्द अनुरागा॥
बेलि बिटप सब सफल सफूला। बोलत खग मृग अलि अनुकूला॥
तेहि अवसर बन अधिक उछाहू। त्रिबिधि समीर सुखद सब काहू॥
जाइ न बरनि मनोहरताई। जनु महि करति जनक पहुनाई॥
तब सब लोग नहाइ नहाई। राम जनक मुनि आयसु पाई॥
देखि देखि तरुवर अनुरागे। जहँ तहँ पुरजन उतरन लागे॥
दल फल मूल कन्द बिधि नाना। पावन सुन्दर सुधा समाना॥

दो०—सादर सब कहँ रामगुरु, पठये भरि भरि भार।
पूजि पितर सुर अतिथि गुरु, लगे करन फलहार॥

एहि बिधि बासर बीते चारी। राम निरखि नरनारि सुखारी॥
दुहुँ समाज अति रुचि मनमाहीं। बिनु सियराम फिरब भल नाहीं॥
सीता राम संग बनबासू। कोटि अमरपुर-सरिस सुपासू॥
परिहरि लषन-राम-बैदेही। जेहि घर भाव बाम बिधि तेही॥
दाहिन दैउ होइ जब सबही। राम समीप बसिअ बन अबही॥
मंदाकिनि मज्जनि तिहुँ काला। राम दरस मुद-मंगल-माला॥
अटनु रामगिरि बन तापस थल। असनु अमिय सम कंद मूल फल॥
सुख समेत संवत दुइ साता। पल सम होहि न जनिअहिं जाता॥

दो०—एहि सुख जोग न लोग सब, कहहिं कहाँ अस भाग।
सहज सुभाय समाज दुहुँ, राम चरन अनुराग॥

एहि विधि सकल मनोरथ करहीं। वचन सप्रेम सुनत मन हरहीं॥
सीय मात तेहि समय पठाईं। दासी देखि सुअवसर आईं॥
सावकास सुनि सब सिय सासू। आयउ जनक राज रनिवासू॥
कौसल्या सादर सनमानी। आसन दिये समय सम आनी॥
सील सनेह सकल दुहुँ ओरा। द्रवहिं देखि सुनि कुलिस कठोरा॥
पुलक सिथिल तनु वारि विलोचन। महि नख लिखन लगीं सब सोचन॥
सब सिय-राम-प्रीति की मूरति। जनु करुना बहु वेष बिसूरति॥
सीय मातु कह विधि बुधि बाँकी। जो पयफेन फोर पबि टाँकी॥

दो०—सुनिअ सुधा देखिअहिं गरल, सब करतूति कराल।
जहँ तहँ काक उलूक बक, मानस सुकृत मराल॥

सुनि ससोच कह देवि सुमित्रा। विधिगत बड़ि विपरीत विचित्रा॥
जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बाल केलि सम विधिमति भोरी॥
कौसल्या कह दोस न काहू। करम बिबस दुखसुख छति लाहू॥
कठिन करम गति जान विधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता॥
ईस रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय विषहुँ अमी के॥
देवि मोह बस सोचिअ बादी। विधि प्रपंच अस अचल अनादी॥
भूपति जियब मरब उर आनी। सोचिय सखि लखि निज हानी॥
सीय मातु कह सत्य सुबानी। सुकृति अवधि अवध पति रानी॥

दो०—लखनु राम सिय जाहु बन, भल परिनाम न पोचु।
गहिवर हिय कह कौसिला, मोहि भरत कर सोचु॥

ईस प्रसाद असीस तुम्हारी। सुत-सुत वधू देव-सरि बारी॥
राम सपथ मैं कीन्ह न काऊ। सो करि कहउँ सखी सतिभाऊ॥
भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥

जानउँ सदा भरत कुलदीपा। बार बार मोहि कहेऊ महीपा॥
कसे कनक मनि पारिखि पाये। पुरुष परिखियहिं समय सुभाये॥
अनुचित आजु कहब अस मोरा। सोक सनेह सयानप थोरा॥
सुनि सुर-सरि-सम पावनि बानी। भईं सनेह बिकल सब रानी॥

दो०—कौसल्या कह धीर धरि, सुनहु देवि मिथिलेसि।
को बिवेक निधि-बल्लभहिं, तुम्हहिं सकइ उपदेसि॥

रानि राय सन अवसरु पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई॥
रखिअहिं लखन भरत गवनहिं बन। जौं यह मत मानैं महीप मन॥
तौ भल जतन करब सुबिचारी। मोरे सोच भरत कर भारी॥
गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहे नीक मोहि लागत नाहीं॥
लखि सुभाउ सुनि सरल सुबानी। सब भइँ मगन करुनरस रानी॥
नभ प्रसून झरि धन्य धुनि। सिथिल सनेह सिद्ध जोगी मुनि॥
सब रनिवास बिथकि लखि रहेऊ। तब धरि धीर सुमित्रा कहेऊ॥
देवि दण्ड जुग जामिनि बीती। राममातु सुनि उठी सुप्रीती॥

दो०—बेगि पाउ धारिअ थलहि, कह सनेहि सतिभाय।
हमरे तौ अब ईस गति, कै मिथिलेस सहाय॥

लखि सनेह सुनि बचन बिनीता। जनकप्रिया गहि पाँय पुनीता॥
देवि उचित अस बिनय तुम्हारी। दसरथ-घरनि राम-महतारी॥
प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूमगिरि सिर तृन धरहीं॥
सेवक राउ करम-मन-बानी। सदा सहाय महेस भवानी॥
रउरे अंग जोगु जग को है। दीप सहाय कि दिनकर सोहै॥
राम जाइ बन करि सुर काजू। अचल अवधपुर करिहहिं राजू॥
अमर नाग नर राम-बाहुबल। सुख बसिहहिं अपने अपने थल॥
यह सब जागबलिक कहि राखा। देबि न होइँ मुधा मुनि भाखा॥

दो०—अस कहि पग परि प्रेम अति, सिय-हित बिनय सुनाइ।
सिय समेत सियमातु तब, चली सुआयसु पाइ॥

प्रिय परिजनहिं मिली बैदेही। जो जेहि जोगु भाँति तेहि तेहि
तापस वेष जानकी देखी। भा सबु बिकल बिषाद बिसेषी
जनक राम गुरु आयसु पाई। चले थलहिं सिय देखी आ
लीन्ह लाइ उर जनक जानकी। पाहुनि पावन प्रेम प्रान
उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू। भयउ भूप मन मनहुँ प्रयाग
सिय सनेह बट बाढ़त जोहा। तापर राम प्रेम-सिसु सोहा
चिरजीवी मुनि ग्यान बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु
मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर-सनेह की

दो०—सिय-पितु-मात-सनेह-बस, बिकल न सकी सँभारि।
धरनिसुता धीरज धरेउ, समउ सुधरम बिचारि॥

तापस बेष जनक सिय देखी। भयउ प्रेम परितोषु बिसेषी
पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोउ
जिति सुरसरि कीरति-सरि तोरी। गवनु कीन्ह बिधि अंड करोरी
गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे। एहिं किय साधु समाज घनेरे
पितु कह सत्य सनेह सुबानी। सीय सकुचि महि मनहुँ समानी
पुनि पितु मातु लीन्ह उर लाई। सिख आसिष हित दीन्हि सुहाई
कहति न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं
लखि रुख रानि जनायेउ राऊ। हृदय सराहत सील सुभाऊ

दो०—बार बार मिलि भेंट सिय, बिदा कीन्ह सनमानि।
कही समय सिर भरत गति, रानि सबानि सयानि॥

सुनि भूपाल भरत व्यवहारू। सोन सुगन्ध सुधा ससि सारू
मूदे सजल नयन पुलके तन। सुजस सराहन लगे मुदित मन
सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि। भरत कथा भव-बंध बिमोचनि
धरम राजनय ब्रह्म बिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहइ काह छल छुअति न छाँही
बिधि गनपति अहिपति सिव सारद। कबि कोबिद बुध बुद्धि बिसारद

भरत चरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती।
समुझत सुनत सुखद सब काहू। सुचि-सुरसरि रुचि निदर सुधाहू॥

दो०—निरबधि गुन निरुपम पुरुष, भरत भरत सम जानि।
अहिअ सुमेरु कि सेर सम, कवि-कुल-मति सकुचानि॥

अगम सबहिं बरनत बरबरनी। जिमि जलहीन मीन गमु धरनी॥
भरत अमित महिमा सुनि रानी। जानहि राम न सकहिं बखानी॥
बरनि सप्रेम भरत अनुभाऊ। तिय जिय की रुचि लखि कह राऊ॥
बहुरहिं लखन भरत बन जाहीं। सबकर भल सब के मन माहीं॥
देवि परन्तु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥
भरत सनेह अवधि ममता की। जद्यपि राम सीव समता की॥
परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥
साधन सिद्ध राम-पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

दो०—भोरेहुँ भरत न पेलहहिं, मनसहुँ राम रजाइ।
करिय न सोचु सनेह बस, कहेउ भूप बिलखाइ॥

राम-भरत-गुन गनत सप्रीती। निसि दंपतिहिं पलक सम बीती॥
रामसमाज प्रात जुग जागे। न्हाइ न्हाइ सुर पूजन लागे॥
गे नहाइ गुरु पहिं रघुराई। बंदि चरन बोले रुख पाई॥
नाथ भरत पुरजन महतारी। सोक बिकल बनबास दुखारी॥
सहित समाज राउ मिथिलेसू। बहुत दिवस भये सहत कलेसू॥
उचित होइ सोइ कीजिय नाथा। हित सबही कर तोरे हाथा॥
अस कहि अति सकुचे रघुराऊ। मुनि पुलके लखि सील सुभाऊ॥
तुम्ह बिनु राम सकल सुखसाजा। नरक सरिस दोउ राजसमाजा॥

दो०—प्रान प्रान के जीव के, जिव सुख के सुखराम।
तुम्ह तजि तात सुहात गृह, जिन्हहिं तिन्हहिं बिधि बाम॥

सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम-पद पंकज भाऊ॥
जोग कुजोगु ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं रामप्रेम परधानू॥

तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह तेही। तुम्ह जानहु जिय जो जेहि केहीं
राउर आयसु सिर सब हीके। बिदित कृपालहिं गति सब नीके
आप आश्रमहिं धारिय पाऊ। भयउ सनेह सिथिल मुनिराऊ
करि प्रनाम तब राम सिधाये। रिषि धरि धीर जनकपहिं आये
राम बचन गुरु नृपहिं सुनाये। सील सनेह सुभाय सुहाये
महाराज अब कीजिय सोई। सब कर धरम सहित हित होई

दो०—ज्ञाननिधान सुजान सुचि, धरमधीर नरपाल।
तुम्ह बिनु असमंजस समन, को समरथ एहि काल॥

सुनि मुनि बचन जनक अनुरागे। लखि गति ज्ञान बिराग बिरागे
सिथिल सनेह गुनत मन माहीं। आये इहाँ कीन्ह भल नाहीं
रामहिं राय कहेउ बन जाना। कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रवाना
हम अब बन तें बनहिं पठाई। प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई
तापस मुनि महिसुर सुनि देखी। भये प्रेमबस विकल बिसेखी
समउ समुझि धरि धीरज राजा। चले भरत पहिं सहित समाजा
भरत आइ आगे भइ लीन्हे। अवसर सरिस सुआसन दीन्हे
तात भरत कह तिरहुति राऊ। तुम्हहिं बिदित रघुबीर सुभाऊ

दो०—राम सत्यब्रत धर्मरत, सबकर सील सनेहु।
संकट सहत संकोचबस, कहिय जो आयसु देहु॥

सुनि तन पुलकि नयन भरि बारी। बोले भरत धीर धरि भारी
प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुल गुरु-सम हित माय न बापू
कौसिकादि मुनि सचिव समाजू। ज्ञान अंबुनिधि आपुनु आजू
सिय सेवक आयसु अनुगामी। जानि मोहि सिख देइअ स्वामी
एहि समाज थल बूझब राउर। मौन मलिन मैं बोलब बाउर
छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा धरम कठिन जग जाना
स्वामि धरम स्वारथहिं बिरोधू। बैर अंध प्रेमहिं न प्रबोधू

दो०—राखि राम रुख धरम व्रत, पराधीन मोहि जान।
सब के सम्मत सर्बहित, करिय प्रेम पहिचानि॥

भरत बचन सुनि देखि सुभाऊ। सहित समाज सराहत राऊ॥
सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे॥
ज्यों मुख मुकुरु मुकुरु निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी॥
भूप भरत मुनि सहित समाजू। गे जहँ बिबुध-कुमुद द्विज राजू॥
सुनि सुधि सोच बिकल सब लोगा। मनहुँ मीनगन नव जल जोगा॥
देव प्रथम कुल-गुरु-गति देखी। निरखि बिदेह सनेह बिसेखी॥
राम भगति-मय भरत निहारे। सुर स्वारथी हहरि हिये हारे॥
सब कोउ राम प्रेममय पेखा। भये अलेख सोच बस लेखा॥

दो०—राम सनेह-संकोच बस, कह ससोच सुरराज।
रचहु प्रपंचहि पंच मिलि, नाहित भयउ अकाज॥

सुरन्ह सुमिरि सारदा सराही। देवि देव सरनागत पाही॥
फेरि भरत-मति निज माया। पालु बिबुध कुल करि छलछाया॥
बिबुध बिनय सुनि देवि सयानी। बोली सुर स्वारथ जड़ जानी॥
मो सन कहहु भरत मति फेरू। लोचन सहस न सूझ सुमेरू॥
बिधि-हरि-हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत-मति सकइ निहारी॥
सो मति मोहि कहत करु भोरी। चाँदिनि कर कि चंदकर चोरी॥
भरत हृदय सियराम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि-प्रकासू॥
अस कहि सारद गइ बिधिलोका। बिबुध बिकल निसि मानहुँ कोका॥

दो०—सुर स्वारथी मलीन मन, कीन्ह कुमंत्र कुठाटु।
रचि प्रपंच माया प्रबल, भय भ्रम अरति उचाटु॥

करि कुचालि सोचत सुरराजू। भरत हाथ सबु काजु अकाजू॥
गये जनक रघुनाथ समीपा। सनमाने सब रबि-कुल-दीपा॥
समय समाज धरम अबिरोधा। बोले तब रघु-वंस पुरोधा॥
जनक भरत संवाद सुनाई। भरत कहाउति कही सुहाई॥

तात राम जस आयसु देहू। सो सब करै मोर मत एहू॥
सुनि रघुनाथ जोरि जुगपानी। बोले सत्य सरल मृदु बानी॥
विद्यमान आपुनि मिथिलेसू। मोर कहब सब भाँति भदेसू॥
राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई॥

दो०—राम सपथ सुनि मुनि जनक, सकुचे सभा समेत।
सकल विलोकत भरत मुख, बनइ न ऊतर देत॥

सभा सकुचबस भरत निहारी। रामबन्धु धरि धीरज भारी॥
कुसमउ देखि सनेह सँभारा। बढ़त बिन्धि जिमि घटज निवारा॥
सोक कनकलोचन मति छोनी। हरी विमल गुन-गन जग जोनी॥
भरत विवेक वराहुँ बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला॥
करि प्रनाम सब कहँ कर जोरे। राम राउ गुरु साधु निहोरे॥
छमब आजु अति अनुचित मोरा। कहउँ वदन मृदु बचन कठोरा॥
हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस ते मुख पंकज आई॥
विमल बिबेक धरम नय साली। भरत भारती मंजु मराली॥

दो०—निरखि विवेक विलोचनन्हि, सिथिल नेह समाजु।
करि प्रनाम बोले भरत, सुमिरि सीय रघुराजु॥

प्रभु पितु मातु सुहृदय गुरु स्वामी। पूज्य परम हित अन्तरजामी॥
सरल सुसाहिब सीलनिधानू। प्रनतपाल सर्वज्ञ सुजानू॥
समरथ सरनागत हितकारी। गुनगाहक अवगन अघहारी॥
स्वामि गोसाइँहि सरिस गोसाईं। मोहि समान मैं स्वामि दोहाईं॥
प्रभु-पितु बचन मोह बस पेली। आयउँ इहाँ समाज सकेली॥
जग भल पोच ऊँच अरु नीचू। अमिय अमरपद माहुरु मीचू॥
राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोऊ नाहीं॥
सो मैं सब विधि कीन्ह ढिठाई। प्रभु मानो सनेह सेवकाई॥

दो०—कृपा भलाई आपनी, नाथ कीन्ह भल मोर।
दूषन भे भूषन सरिस, सुजसु चारु चहुँ ओर॥

साउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई॥
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आये। सुकृत प्रनाम किये अपनाये॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥
को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समान साज सब साजी॥
निज करतूति न समुझिय सपने। सेवक सकुच सोच उर अपने॥
सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी॥
पसु नाचत सुक पाठ प्रवीना। गुनगति नट पाठक आधीना॥

दो०—यों सुधारि सनमानि जन, किये साधु सिरमोर।
को कृपाल बिनु पालिहइ, बिरदावलि बरजोर॥

सोक सनेह कि बाल सुभाये। आयउँ लाइ रजायसु बाये॥
तबहुँ कृपाल हेरि निज ओरा। सबहि भाँति भल मानेउ मोरा॥
देखेउँ पाय सु-मंगल-मूला। जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला॥
बड़े समाज बिलोकेउँ भागू। बड़ी चूक साहिब अनुरागू॥
कृपा अनुग्रह अंग अघाई। कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई॥
राखा मोर दुलार गोसाईं। आपन सील सुभाय भलाईं॥
नाथ निपट मैं कीन्हि ढिठाई। स्वामि समाज सकोच बिहाई॥
अविनय विनय जथारुचि बानी। छमिहि देव अति आरति जानी॥

दो०—सुहृद सुजान सुसाहिबहि, बहुत कहब बड़ि खोरि।
आयसु देइअ देव अब, सबइ सुधारिय मोरि॥

प्रभु-पद-पदुम पराग दोहाई। सत्य सुकृत सुख सींव सुहाई॥
सो करि कहउँ हिये अपने की। रुचि जागत सोवत सपने की॥
सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥
अज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावहि देवा॥
अस कहि प्रेम बिबस भये भारी। पुलक सरीर बिलोचन बारी॥
प्रभु-पद-कमल गहे अकुलाई। समउ सनेह न सो कहि जाई॥

कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाये समीप गहि पानी॥
भरत बिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेह सभा रघुराऊ॥
छन्द—रघुराउ सिथिल सनेह साधु समाज मुनि मिथिलाधनी।
मन महँ सराहत भरत-भायप-भगति की महिमा घनी॥
भरतहिं प्रसंसत बिबुध बरषत सुमन मानस मलिन से।
तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन से।

सो०—देखि दुखारी दीन, दुहु समाज नरनारी सब।
मघवा महा मलीन, मुए मारि मंगल चहत॥

कपट-कुचालि-सीव सुरराजू। पर-अकाज-प्रिय आपन काजू॥
काक समान पाक-रिपु-रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥
प्रथम कुमति करि कपट सकेला। सो उचाट सब के सिर मेला॥
सुरमाया सब लोग बिमोहे। राम प्रेम अतिसय न बिछोहे॥
भये उचाटवस मन थिर नाहीं। छन बन रुचि छन सदन सोहाहीं॥
दुबिध मनोगत प्रजा दुखारी। सरित सिंधु संगम जनु बारी॥
दुचित कतहुँ परितोष न लहहीं। एक एक सन मरम न कहहीं॥
लखि हिय हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुबानू॥

दो०—भरत जनक मुनिजन सचिव, साधु सचेत बिहाइ।
लागि देव माया सबहिं, जथाजोग जन पाइ॥

कृपासिंधु लखि लोग दुखारे। निज सनेह सुर-पति-छल भारे॥
सभा राउ गुर महिसर मन्त्री। भरत भगति सब कै मति जन्त्री॥
रामहिं चितवत चित्र लिखे से। सकुचत बोलत बचन सिखे से॥
भरत-प्रीति-नति बिनय बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई॥
जासु बिलोकि भगत लवलेसू। प्रेममगन मुनिगन मिथिलेसू॥
महिमा तासु कहइ किमि तुलसी। भगति सुभाय सुमति हिय हुलसी॥
आपु छोटि महिमा बड़ि जानी। कबिकुल कानि मानि सकुचानी॥
कहि न सकति गुन रुचि अधिकाई। मति गति बाल बचन की नाई॥

दो०—भरत बिमल-जस बिमल बिधु, सुमति चकोर कुमारि।
उदित बिमल जन हृदय नभ, एकटक रही निहारि॥

भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ। लघु मति चापलता कबि छमहूँ॥
कहत सुनत सतिभाउ भरत को। सीय-राम-पद होइ न रत को॥
सुमिरत भरतहिं प्रेम राम को। जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को॥
देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की॥
धरमधुरीन धीर नयनागर। सत्य सनेह सील सुख सागर॥
देस काल लखि समउ समाजू। नीति-प्रीति-पालक रघुराजू॥
बोले बचन बानि सरबस से। हितपरिनाम सुनत ससि रस से॥
तात भरत तुम्ह धरमधुरीना। लोक-बेद बिद प्रेम प्रबीना॥

दो०—करम बचन मानस बिमल, तुम्ह समान तुम्ह तात।
गुरु समाज लघु बंधु-गुन, कुसमय किमि कहि जात॥

जानहु तात तरनि कुल-रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती॥
समउ समाज लाज गुरुजन की। उदासीन हित अनहित मन की॥
तुम्हहिं बिदित सबही कर करमू। आपन मोर परमहित धरमू॥
मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा। तदपि कहउँ अवसर अनुसारा॥
तात तात बिनु बात हमारी। केवल गुर-कुल-कृपा संभारी॥
नतरु प्रजा परिजन परिवारू। हमहिं सहित सबु होत खुआरू॥
जौं बिनु अवसर अथव दिनेसू। जग केहि कहहु न होइ कलेसू॥
तस उतपात तात बिधि कीन्हा। मुनि मिथिलेस राखि सब लीन्हा॥

दो०—राजकाज सब लाज पति, धरम धरनि धन धाम।
गुरुप्रभाउ पालिहि सबहि, भल होइहि परिनाम॥

सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुरुप्रसाद रखवारा॥
मातु-पिता गुर-स्वामि-निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनि-कुल-पालक होहू॥
साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी॥

स बिचारि सहि संकट भारी। करहु प्रजा परिवार सुखारी
बाँटो विपति सबहि मोहि भाई। तुम्हहि अवधिभरि बड़ि कठिनाई
जानि तुम्हहिं मृदु कहहुँ कठोरा। कुसमय तात न अनुचित मोरा
होहिं कुठाय सुबंधु सुहाये। ओढ़अहिं हाथ असनि के छाये

दो०—सेवक कर पद नयन से, मुख सो साहिब होइ।
तुलसी प्रीति की रीति सुनि, सुकवि सराहहिं सोइ॥

सभा सकल सुनि रघुबर-बानी। प्रेम-पयोधि अमिय जनु सानी
सिथिल समाज सनेह समाधी। देखि दसा चुप सारद साधी
भरतहिं भयउ परम संतोषू। सनमुख स्वामि विमुख दुख दोषू
मुख प्रसन्न मन मिटा बिसादू। भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू
कीन्ह सप्रेम प्रनाम बहोरी। बोले पानिपंकरुह जोरी
नाथ भयउ सुख साथ गये को। लहेउँ लाहु जग जनम भये को
अब कृपालु जस आयसु होई। करउँ सीस धरि सादर सोई
सो अवलम्ब देव मोहि देई। अवधि पारु पावउँ जेहि सेई

दो०—देव देव अभिषेक हित, गुरु अनुसासन पाइ।
आनेउ सब तीरथ सलिलु, तेहि कहँ काह रजाइ॥

एक मनोरथ बड़ मन माहीं। सभय संकोच जात कहि नाहीं
कहहु तात प्रभु आयसु पाई। बोले बानि सनेह सुहाई
चित्रकूट सुचि थल तीरथ वन। खगमृग सरसरि निर्भर गिरिगन
प्रभु-पद अंकित अवनि विसेखी। आयसु होइ त आवउँ देखी
अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू। तात विगतभय कानन चरहू
मुनिप्रसाद वन मंगल दाता। पावन परम सुहावन भ्राता
रिषिनायक जहँ आयसु देहीं। राखेउ तीरथजल थल तेहीं
सुनि प्रभुवचनभरत सुखु पावा। मुनि पद-कमलमुदित सिरनावा

दो०—भरत-राम संवाद सुनि, सकल-सुमङ्गल-मूल।
सुर स्वारथी सराहि कुल, बरषत सुर-तरु-फूल॥

धन्य भरत जय राम गोसाईं। कहत देव हरषंत बरिआईं॥
मुनि मिथिलेस सभा सब काहू। भरत बचन सुनि भयउ उछाहू॥
भरत-राम-गुन-ग्राम-सनेहू। पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू॥
सेवक स्वामि सुभाउ सुहावन। नेम प्रेम अति पावन पावन॥
मति अनुसार सराहन लागे। सचिव सभासद सब अनुरागे॥
सुनि सुनि राम-भरत-संवादू। दुहुँ समाज हिय हरष बिषादू॥
राम-मातु दुख-सुख सम जानी। कहि गुन राम प्रबोधी रानी॥
एक कहहिं रघुबीर बड़ाई। एक सराहत भरत-भलाई॥

दो०—अत्रि कहेउ तब भरत सन, सैल समीप सुकूप।
राखिय तीरथ तोय तहँ, पावन अमिय अनूप॥

भरत अत्रि अनुसासन पाई। जलभाजन सब दिये चलाई॥
सानुज आप अत्रि मुनि साधू। सहित गये जहँ कूप अगाधू॥
पावन पाथु पुन्य थल राखा। प्रमुदित प्रेम अत्रि अस भाखा॥
तात अनादि सिद्ध थल एहू। लोपेउ काल विदित नहिं केहू॥
तब सेवकन्ह सरस थल देखा। कीन्ह सुजलहित कूप विसेखा॥
बिधिबस भयउ बिस्व उपकारू। सुगमअगम अति धरमबिचारू॥
भरतकूप अब कहिहहिं लोगा। अति पावन तीरथजल जोगा॥
प्रेम सप्रेम निमज्जत पानी। होइहहिं बिमलकरममनबानी॥

दो०—कहत कूप महिमा सकल, गये जहाँ रघुराउ॥
अत्रि सुनायउ रघुबरहिं, तीरथ-पुन्य-प्रभाउ॥

कहत धरम इतिहास सप्रीती। भयउ भोरनिसि सोसुखबीती॥
नित्य निबाहि भरत दोउ भाई। राम अत्रि-गुरु आयसु पाई॥
सहित समाज साज सब सादे। चले राम-बन-अटन पयादे॥
कोमल चरन चलत बिनु पनहीं। भइ मृदुभूमि सकुचि मनमनहीं॥
कुस कंटक काँकरी कुराईं। कटुक कठोर कुबस्तु दुराईं॥
महि मंजुल मृदु मारग कीन्हे। बहत समीर त्रिबिध सुखलीन्हे॥

सुमन बरषि सुर घन करि छाहीं। बिटप फूल फल तृन मृदुताहीं।
मृग बिलोक खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल रामप्रिय जानी।

दो०—सुलभ सिद्धि सब प्राकृतहु, राम कहत जमुहात।
राम प्रान-प्रिय भरत कहुँ, यह न होइ बड़ि बात॥

एहि बिधि भरतु फिरत बन माहीं। नेम प्रेम लखि मुनि सकुचाहीं।
पुन्य जलाश्रय भूमि बिभागा। खगमृगतरुतृनगिरि बनबागा।
चारु बिचित्र पबित्र बिसेखी। बूझत भरत दिव्य सब देखी।
सुनि मन मुदित कहत रिषिराऊ। हेतु नाम गुन पुन्य प्रभाऊ।
कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा। कतहुँ बिलोकत मन अभिरामा।
कतहुँ बैठि मुनि आयसु पाई। सुमिरत सीयसहित दोउ भाई।
देखि सुभाउ सनेह सुसेवा। देहिं असीस मुदित बन देवा।
फिरहिं गये दिन पहर अढ़ाई। प्रभु-पद-कमल बिलोकहिं आई।

दो०—देखे थलतीरथ सकल, भरत पाँच दिन माँझ।
कहत सुनत हरिहर सुजस, गयउ दिवस भइ साँझ॥

भोर न्हाइ सब जुरा समाजू। भरत भूमिसुर तिरहुति राजू।
भल दिन आजु जानि मनमाहीं। राम कृपालु कहत सकुचाहीं।
गुरु नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी।
सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न रामसमस्वामि संकोची।
भरत सुजान रामरुख देखी। उठि सप्रेम धरि धीर बिसेखी।
करि दंडवत कहत कर जोरी। राखी नाथ सकल रुचि मोरी।
मोहिं लगि सबहिं सहेउ संतापू। बहुत भाँति दुख पावा आपू।
अब गोसाइँ मोहि देहु रजाई। सेवउँ अवध अवधि भरि जाई।

दो०—जेहि उपाय पुनि पाय जन, देखइ दीनदयाल।
सो सिख देइअ अवधि लगि, कोसलपाल कृपाल॥

पुरजन परिजन प्रजा गोसाईं। सब सुचि सरस सनेह सगाईं।
राउर बदि भल भव-दुख दाहू। प्रभु बिनु बादि परम-पद-लाहू।

स्वामि सुजान जानि सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जीकी॥
प्रनतपाल पालहिं सब काहू। देव दुहूँ दिसि ओर निबाहू॥
अस मोहि सब विधि भूरि भरोसो। किये बिचार न सोचु खरो सो॥
आरति मोर नाथ कर छोहू। दुहुँ मिलि कीन्ह ढीठ हठि मोहू॥
यह बड़ दोष दूरि करि स्वामी। तजि संकोच सिखइय अनुगामी॥
भरत बिनय सुनि सबहिं प्रसंसी। छीर-नीर बिबरन गति हंसी॥

दो०—दीनबन्धु सुनि बन्धु के, वचन दीन छलहीन।
देश-काल-अवसर सरिस, बोले राम प्रवीन॥

तात तुम्हारि मोरि परिजन की। चिंता गुरुहि नृपहिं घर वन की॥
माथे पर गुरु मुनि मिथिलेसू। हमहि तुम्हहिं सपनेहुँ न कलेसू॥
मोर तुम्हार परम पुरुषारथ। स्वारथ सुजस धरम परमारथ॥
पितु आयसु पालहिं दुहुँ भाई। लोक बेद भल भूप भलाई॥
गुरु-पितु-मातु-स्वामि-सिख पाले। चलेहुँ कुमग पग परहिं न खाले॥
अस बिचारि सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधि भरि जाई॥
देस कोस परिजन परिवारू। गुरुपद रजहिं लाग छरु भारू॥
तुम्ह मुनि मातु-सचिव-सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी॥

दो०—मुखिया मुख सों चाहिये, खान पान कहँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित बिबेक॥

राज-धरम-सरबस एतनोई। जिमि मन माहँ मनोरथ गोई॥
बन्धु प्रबोध कीन्ह बहु भाँती। बिनु अधार मन तोषु न साँती॥
भरत सील गुरु सचिव समाजू। सकुचि सनेह बिबस रघुराजू॥
प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही। सादर भरत सीस धरि लीन्ही॥
चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिन प्रजा प्रान के॥
संपुट भरत सनेह रतन के। आखर जुग जनु जीव जतन के॥
कुल-कपाट कर कुसल करम के। बिमल नयन सेवा-सु-धरम के॥
भरत मुदित अवलम्ब लहे तें। अस सुख जस सिय राम रहे तें॥

दो०—माँगेउ विदा प्रनाम करि, राम लिये उर लाइ ॥
लोग उचाटे अमरपति, कुटिल कुअवसरु पाइ ॥

सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी। अवधि आस सम जीवनि जी[illegible]
नातरु लषन सिय-राम-बियोगा। हहरि मरत सब लोग कुरोग[illegible]
राम कृपा अवरेब सुधारी। विबुध धारि भइ गुनद गोहारी
भेंटत भुज भरि भाइ भरत सों। राम-प्रेम-रस कहि न परत सो
तन मन बचन उमग अनुरागा। धीर धुरंधर धीरज त्यागा
बारिज-लोचन मोचन बारा। देखि दसा सुर-सभा दुखारी
मुनिगन गुरधुर धीर जनक से। ज्ञान अनल मन कसे कनक से
जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जल जाये

दो०—तेउ बिलोकि रघुवर भरत, प्रीत अनूप अपार।
भये मगन मन तन बचन, सहित बिराग विचार ॥

जहाँ जनक गुरु गति मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी
बरनत रघुवर - भरत - बियोगू। सुनि कठोर कवि जानिहि लो[illegible]
सो संकोच रस अकथ सुबानी। समउ सनेहु सुमिरि सकुचानी
भेंटि भरत रघुवर समुझाये। पुनि रिपुदमनु हरषि हिय लाये
सेवक सचिव भरत रुख पाई। निज-निज काज लगे सब जाई
सुनि दारुन दुख दुहुँ समाजा। लगे चलन के साजन साजा
प्रभु पद-पदुम बंदि दोउ भाई। चले सीस धरि राम रजाई
मुनि तापस बनदेव निहोरी। सब सनमानि बहोरि बहोरि

दो०—लखनहिं भेंटि प्रनाम करि, सिर धरि सिय पद धूरि
चले सप्रेम असीम सुनि, सकल—सुमङ्गल—मूरि

———

अवधेष के द्वारें सकारें गई, सुत गोद के भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच बिमोचन को ठगि सी रही, जे न ठगे धिक से॥
'तुलसी' मनरंजन रंजित अंजन नैन सु खंजन जातक से।
सजनी ससि मैं समसील उभै, नवनील सरोरुह से बिकसे॥१
पग नूपुर औ पहुँची करकंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिये।
नवनील कलेवर पीत झँगा झलकै, पुलकै नृप गोद लिये॥
अरबिंद सो आनन, रूपमरंद अनंदित लोचन भृङ्ग पिये।
मन मों न बस्यौ अस बालक जौ 'तुलसी' जग में फल कौन जिये॥२
तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरैं।
अति सुन्दर सोहत धूरि भरे, छवि भूरि अनङ्ग की दूरि धरैं॥
दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यों, किलकैं कल बाल-बिनोद करैं।
अवधेस के बालक चारि सदा 'तुलसी' मन मन्दिर में बिहरैं॥३
कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत, मातु सबै मनमोद भरैं॥
कबहूँ रिसआइ कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेस के बालक चारि सदा, 'तुलसी' मन-मन्दिर में बिहरैं॥४
बर दंत की पंगति कुंदकली, अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै, छवि मोतिन माल अमोलन की॥
घुँघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुण्डल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करै 'तुलसी,' बलि जाऊँ लला इन बोलन की॥५
पदकंजनि मंजु बनी पनहीं, धनुहीं सर पंकजपानि लिये।
लरिका सँग खेलत डोलत हैं, सरजूतट चौहट हाट हिये॥
'तुलसी' अस बालक सौं नहिं नेह, कहा जप जोग समाधि किये।
नर ते खर सूकर स्वान समान, कहौ जग में फल कौन जिये?॥६

सरजू वर तीरहि तीर फिरैं, रघुबीर सखा अरु बीर सो
धनुहीं कर तीर, निषंग कसे कटि, पीत दुकूल नवीन फबै
'तुलसी' तेहि औसर लावनिता दस, चारि, नौ, तीनि, इक्कीस सो
मति भारति पंगु भई जो निहारि, विचारि फिरी उपमा न पावै

सवैया।

बनिता बनि स्यामल गौर के बीच, बिलोकहु, री सखी मोहि सी ह्वै
मग जोग न, कोमल क्यों चलिहैं, सकुचात मही पदपंकज छ्वै
'तुलसी' सुनि ग्रामबधू बिथकीं, पुलकी तन औ चले लोचन च्वै
सब भाँति मनोहर मोहन रूप, अनूप हैं भूप के बालक द्वै

साँवरे गोरे सलोने सुभाय, मनोहरता जिति मैन लियो
बान कमान निषंग कसे, सिर सोहैं जटा, मुनि-वेष कियो
सङ्ग लिये बिधु बैनी बधू रति को जेहि रंचक रूप दियो
पाँयन तौ पनहीं न, पयादेहि क्यों चलि हैं ? सकुचात हियो

रानी में जानी अजानी महा, पवि पाहन हूँ ते कठोर हियो
राजहु काज अकाज न जान्यो, कह्यो तिय को जिन कान कियो
ऐसी मनोहर मूरति ये, बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो
आँखिन में सखि राखिबे जोग, इन्हें किमि कै बनवास दियो

सीस जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरछी-सी भौं
तून सरासन बान धरे, 'तुलसी' बन-मारग में सुठि सो
सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मो
पूछति ग्राम-बधू सिय सों—"कहो साँवरे से, सखि रावरे को है

सुनि सुन्दर बैन सुधारस सानै, सयानी है जानकी जानी भ
तिरछे करि नैन दै सैन, तिन्हैं समुझाइ, कछू मुसकाइ चल
'तुलसी' तेहि औसर सोहैं सबै, अवलोकति लोचन-लाहु अ
अनुराग-तड़ाग में भानु उदै, बिगसी मनो मंजुल कञ्ज कल

धरि धीर कहैं—"चलु देखिय जाइ जहाँ सजनी रजनी रहि हैं।
कहि है जग पोच, न सोच कछू, फल लोचन आपन तौ लहि हैं॥
सुख पाइ हैं कान सुने बतियाँ, कल आपुस में कछु पै कहि हैं।"
'तुलसी' अति प्रेम लगि-पुलकैं, पुलकीं लखि राम हिये महि हैं॥ ६

पद कोमल, श्यामल गोर कलेवर, राजत कोटि मनोज लजाए।
कर बान सरासन, सीस जटा, सरसीरुह लोचन सो न सुहाए॥
जिन देखे, सखी! सतभायहु तें, 'तुलसी' तिन तौ मन फेरि न पाए।
यहि मारग आजु किसोरबधू, बिधुबैनी समेत सुभाय सिधाए॥ ७

मुख पङ्कज, कञ्ज बिलोचन मंजु, मनोज सरासन सी बनी भौहैं।
कमनीय कलेवर, कोमल स्यामल गौर किसोर, जटा सिर सोहैं॥
'तुलसी' कटि तून धरे धनु-बान, अचानक दीठि परी तिरछौहैं।
केहि भाँति कहौं सजनी! तोहि सों, मृदु मूरति द्वै निवसी मन मोहैं॥ ८

प्रेम सों पीछे तिरीछे प्रियाहु, चितै चितु दै, चले लै चित चोरे।
स्याम शरीर पसेउ लसै, हुलसै 'तुलसी' छबि सो मन मोरे॥
लोचन लोल चलै भ्रकुटी, कल काम-कमानहु सो तृन तोरे।
राजत राम कुरंग के संग, निषंग कसे, धनु सों सर जोरे॥ ९

सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि, पानि परासन सायक लै।
बन खेलत राम फिरैं मृगया, 'तुलसी' छबि सो बरनै किमि कै?
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै।
न डगैं, न भगैं जिय जानि सिलीमुख, पंच धरे रतिनायक है॥ १०

बिन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम-तीय तरी, 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनिबृन्द सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी, परसे पद मंजुल-कञ्ज निहारे।
कीन्ही भली रघुनायकजू, करुना करि कानन को पगु धारे॥ ११

———

विनयपत्रिका

मैं हरि पतित पावन सुने।
मैं पतित, तुम पतितपावन, दोऊ बानक बने॥
व्याध, गनिका, गज, अजामिल साखि निगमनि भने।
और अधम अनेक तारे, जात का पै गने ?॥
जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने।
दास 'तुलसी' सरन आयो रखिए आपने॥

तोसो प्रभु जो पै कहुँ कोउ होतो।
तौ सहि निपट निरादर निसि दिन रटि लट ऐसो घटि कोतो
कृपासुधा जल दान माँगिबो कहौं सो साँच निसोतो
स्वाति-सनेह-सलिल-सुख चाहत चित चातक को पोतो
काल करम बस मनन कुमनोरथ कबहुँ कबहुँ कछु भो तो
ज्यों मुदमय बसि मीन बारि तजि उछरि भभरि लेत गोतो
जितो दुराउ दास 'तुलसी' उर क्यों कहि आवत ओतो
तेरे राज राय दशरथ के लयो बयो बिनु जोतो

रघुवर ! रावरि यहै बड़ाई।
निदरि गनी आदर गरीब पर करत कृपा अधिकाई॥
थके देव साधन करि सब, सपनेहुँ नहिं देत दिखाई।
केवट कुटिल भालु कपि कौनप कियो सकल सँग भाई॥
मिलि मुनि वृन्द फिरत दंडक वन, सो चरचौ न चलाई।
बारहि बार गीध सबरी की बरनत प्रीति सुहाई॥
स्वान कहे तें कियो पुर बाहिर जती गयंद चढ़ाई।
तिय निंदक मतिमन्द प्रजारज निज नय नगर बसाई॥

यहि दरबार दीन को आदर, रीति सदा चलि आई।
दीनदयालु दीन 'तुलसी' की काहु न सुरति कराई॥

ऐसे राम दीन हितकारी।
अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर-उपकारी॥
साधन हीन दीन निज अघ-बस सिला भई मुनि-नारी।
गृह तें गवनि परसि पदपावन घोर साप तें तारी॥
हिंसा-रत निषाद तामस बपु पसु समान बनचारी।
भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेमबस, नहिं कुल जाति बिचारी॥
जद्यपि द्रोह कियो सुरपति-सुत कहि न जाइ अति भारी।
सकल लोक अवलोकि सोक-हत सरन गये भय टारी॥
बिहँग जोनि आमिष अहार पर गीध कौन व्रतधारी।
जनक समान क्रिया ताकी निज कर सब भाँति सँवारी॥
अधम जाति सबरी जोषित जड़ लोक बेद तें न्यारी।
जानि प्रीति दै दरस कृपानिधि सोउ रघुनाथ उधारी॥
कपि सुग्रीव बन्धुभय-व्याकुल आयो सरन पुकारी।
सहि न सके दारुन दुख जन के हत्यो बालि सहिगारी॥
रिपु को अनुज विभीषण निसिचर कौन भजन अधिकारी।
सरन गये आगे ह्वै लीन्हों भेंट्यो भुजा पसारी॥
असुभ होय जिनके सुमरे तें बानर रीछ बिकारी।
वेद-विदित पावन किए ते सब, महिमा नाथ तुम्हारी॥
कहँ लगि कहौं दीन अगनित जिन्ह की तुम्ह बिपति निवारी।
कलिमल-ग्रसित दास 'तुलसी' पर काहे कृपा बिसारी॥

जौ पै रामचरन रति होती।
तौ कत त्रिबिधि सूल निसि बासर सहते बिपति निसोती॥

जौ संतोष सुधा निसि बासर सपनेहुँ कबहुँक पावै।
तौ कत विषय बिलोकि झूँठ-जल मन कुरंग ज्यों धावै॥
जौ श्रीपति-महिमा बिचारि उर भजते भाव बढ़ाए।
तौ कत द्वार द्वार कूकर ज्यों फिरते पेट खलाए॥
जे लोलुप भए दास आस के ते सब ही के चेरे।
प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह ते सेवक हरि केरे॥
नहिं एको आचरन भजन को बिनय करत हौं ताते।
कीजै कृपा दास 'तुलसी' पर नाथ! नाम के नाते॥

———

गीतावली

बाल-सौन्दर्य

आँगन खेलत आनन्दकन्द।
रघु-कुल-कुमुद सुखद चारु चन्द॥
सानुज भरत लषन संग सोहैं।
सिसु-भूषन-भूषित मन मोहैं॥
तन-दुति मोर-चन्द जिमि झलकैं।
मनहुँ उमँगि अँग-अँग छबि छलकैं॥
कटि किंकिनि, पग पैंजनि बाजैं।
पंकज-पानि पहुँचियाँ राजैं॥
कठुला कण्ठ बघनहा नीके।
नयन-सरोज मयन-सरसी के॥
लटकन लसत ललाट लटूरीं।
दमकति द्वै-द्वै दँतुरियाँ रूरीं॥
मुनि मन हरत मंजु मसि-बुन्दा।
ललित बदन, बलि बालमुकुन्दा॥

कुलही चित्र विचित्र झँगूलीं।
निरखत मातु मुदित मन फूलीं॥
गहि मन-खम्भ डिंभ डिग डोलत।
कल बल बचन तोतरे बोलत॥
किलकत झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि।
देत परम सुख पितु अरु अम्बनि॥
सुमिरत सुषमा हिय हुलसी है।
गावत प्रेम पुलकि 'तुलसी' है॥

———

बाल क्रीड़ा

ललित सुतहि लालति सचुपाए।
कौसल्या कल कनक-अजिर महँ,
सिखवति चलन अँगुरिया लाए॥
कटि किंकिनी, पैंजनी पाँयनि,
बाजत रुनझुनु मधुर रँगाए।
पहुँची करनि, कण्ठ कठुला बन्यो,
केहरि नख-मनि-जरति जराए॥
पीत पुनीत विचित्र झँगुलिया,
सोहति स्याम सरीर सोहाए।
दँतियाँ द्वै-द्वै मनोहर मुख-छवि,
अरुन अधर चित लेत चुराए॥
चिबुक कपोल नासिका सुन्दर,
भाल तिलक मसि-बिंदु बनाए।
राजत नयन मंजु अञ्जनजुत,
खञ्जन कञ्ज मीन मद लाए॥

लटकन चारु भ्रकुटिया टेढ़ी—
मेढ़ी सुभग सुदेस सुभाए।
किलकि-किलकि नाचत चुटकी सुनि,
डरपति जननि पानि छुटकाए॥
गिरि घुटुरुवनि टेकि उठि अनुजनि,
तोतरि बोलत पूप दिखाए।
बाल-केलि अवलोकि मातु सब,
मुदित मगन आनँद न अमाए॥
देखत नभ घन-ओट चरित मुनि,
जोग समाधि बिरति बिसराए।
'तुलसीदास' जे रसिक न एहि रस,
ते नर जड़ जीवत जग जाए॥

वर-वधू-शोभा

दूलह राम, सीय दुलही री।
घन-दामिनि-वर-बरन, हरन मन सुन्दरता नखसिख निबही, री॥
ब्याह-बिभूषन-बसन-बिभूषित, सखि-अवली लखि ठगि सी रही, री।
जीवन-जनम-लाहु लोचन-फल है इतनोइ, लह्यो आज सही, री॥
सुखमा-सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमिय-मय कियो है दही, री।
मथि माखन सिय-राम सँवारे, सकल-भुवन छवि मनहुँ मही, री॥
'तुलसिदास' जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही, री।
रूप-रासि बिरची बिरंचि मनो, सिला लवनि रति-काम लही, री॥

कैकेयी-भर्त्सना

ऐसे तैं क्यों कटु बचन कह्यौ री।
राम जाहु कानन कठोर, तेरो कैसे धौं हृदय रह्यो, री॥
दिनकर-वंस, पिता दशरथ से, राम-लखन से भाई।
जननी! तू जननी? तौ कहा कहौं, विधि केहि खोरि न लाई॥
'हौं लहि हौं सुख राजमतु ह्वै, सुत सिर छत्र धरैगो'।
कुल-कलंक मल-मूल मनोरथ तव बिनु कौन करैगो?॥
ऐहैं राम, सुखी सब ह्वै हैं, ईस अजस मेरो हरिहैं।
'तुलसिदास' मोको बड़ो सोच है तू जनम कोनि विधि भरिहै॥

भरत का आत्म-निवेदन

जो पै हौं मातु-मते महँ ह्वै हौं।
तौ जननी! जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं॥
क्यौं हौं आजु होत सुचि सपथनि? कौन मानि है साँची?।
महिमा मृगी कौन सुकृती की खल-बच-बिसिषन बाँची?॥
गहि न जाति रसना काहू की, कहौ जाहि जोइ सूझै।
दीनबंधु कारुन्य-सिंधु विनु कौन हिये की बूझै?॥
'तुलसी' रामवियोग-विषय-बिष बिकल नारि-नर भारी।
भरत-सनेह-सुधा सींचे सब भए तेहि समय सुखारी॥

दोहावली।

चातक की अनन्यता।

घर कीन्हें घर जात है, घर छाँड़े घर जाइ।
'तुलसी' घर बन बीच ही, राम-प्रेम-पुर जाइ॥
एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम-घनस्याम हित, चातक 'तुलसीदास'॥

रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखिगे अंग।
'तुलसी' चातक प्रेम को, नित नूतन रुचि रंग॥
चढ़त न चातक चित कबहुँ, प्रिय पयोद के दोख।
'तुलसी' प्रेम-पयोधि की, तातैं नाप न जोख॥
उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥
मान राखिबो, माँगिबो, प्रिय सों नित नव नेहु।
'तुलसी' तीनिउ तब फबैं, जौं चातक मत लेहु॥
तीनि लोक तिहुँ काल जस, चातक ही के माथ।
'तुलसी' जासु न दीनता, सुनी दूसरे नाथ॥
'तुलसी' चातक ही फबै, मान राखिबो प्रेम।
बक्र बुंद लखि स्वांति हूँ, निदरि निबाहत नेम॥
नहिं जाचत नहिं संग्रहै, सीस नाइ नहिं लेइ।
ऐसे मानी माँगनेहि, को बारिद बिन देइ॥

सोरठा

सुनि रे 'तुलसीदास', प्यास पपीहहिं प्रेम की।
परिहरि चारिउ मास, जो अंचवै जल स्वांति को॥

दोहा

सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंचजिय जोइ॥
कहिबे कहँ रसना रची, सुनिबे कहँ किय कान।
धरिबे कहँ चित हित सहित, परमारथहिं सुजान॥
लोभ के इच्छा दंभ बल, काम के केवल नारि।
क्रोध के पौरुष बचन बल, मुनिवर कहहिं विचारि॥
ग्रह-गृहीत पुनि बात बस, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइ बारुनी, कहहु कौन उपचार?॥

ताहि कि संपति सगुन सुभ, सपनेहु मन बिस्राम।
भूत द्रोह रत, मोह बस, राम विमुख, रतकाम॥
कै लघु कै बड़ मीत भल, सम सनेह दुख सोइ।
'तुलसी' ज्यों घृत मधु सरिस, मिले मिहाविष होइ॥
मान्य मीत सों, सुख चहैं, सो न छुवै छलछाँह।
ससि, त्रिसंकु कैकेइ गति, लखि 'तुलसी' मनमाँह॥
सदा न जे सुमिरत रहहिं, मिलि न कहहिं प्रिय बैन॥
ते पै तिन्ह के जाहिं घर, जिनकै हिये न नैन॥
माखी, काक, उलूक, बक, दादुर से भये लोग।
भले ते सुक, पिक, मोर से, कोउ न प्रेम पथ जोग॥
हृदय कपट, बर वेष धरि, बचन कहैं गढ़ि छोलि।
अब के लोग मयूर ज्यों, क्यों मिलिए मन खोलि॥

केशवदास

कवि परिचय—

आपने सनाढ्य ब्राह्मण जाति में जन्म लिया था और आपको उस जाति का विशेष गर्व भी था। ये कृष्णदत्त के पौत्र एवं काशीनाथ के पुत्र थे। ओरछा-नरेश रामसिंह के अनुज इन्द्रजीतसिंह के आश्रित एवं गुरु थे। इनके पितामह को ओरछा राज्य-संस्थापक मधुकरशाह से पुराण-वृत्ति मिली थी। इन्द्रजीतसिंह ने इन्हें २१ गाँव बड़े आदर के साथ दिये थे। हिन्दी के कवियों में राजसी वातावरण में रहने वाले कवियों में ये प्रधान हैं। कहते हैं कि प्रयाग में इन्द्रजीत ने स्नान करने के पश्चात् इनसे 'कुछ' माँगने को कहा तो इन्होंने यही माँगा कि हमेशा एक-रस कृपा बनी रहे। कहते हैं कि राजा बीरबल के द्वारा इन्होंने इन्द्रजीत का जुर्माना माफ़ करा दिया था। बीरबल ने प्रसन्न होकर इन्हें एक ही छप्पय पर, जिसके अन्तिम दो पद ये हैं

केशवदास

"रचि कै नरनाह बली बलवीर भयो कृतकृत्य महाव्रत धारी।
दै करतापन आपन ताहि दियो करतार दुहूँ करतारी॥"

छह लाख रुपये दिये और यथेच्छ माँगने को कहा था तब इन्होंने उन्हीं के शब्दों में :—

"माँग्यो तव दरबार में, मोंहि न रोके कोय।"

बीरबल, ओरछा, बेतवा और इन्द्रजीतसिंह के विषय में बड़े ही आदर सूचक पद कहे हैं।

(१) बूझत ही बलवीर बने बहु दारिद के दरबार दमामे।

(२) "भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत राजै जुग-जुग,
केसोदास जाके राज राज सो करत है।"

इन्द्रजीतसिंह के यहाँ रायप्रवीणादि ६ वेश्याएँ थीं जिनका केशव ने बड़े आनन्द से वर्णन किया है विशेषकर रायप्रवीण को तो लक्ष्मी, सरस्वती एवं शर्वाणी की उपाधियाँ तक दे डाली हैं।

केशवदास का पाण्डित्य बहुत कुछ वंश-परम्परा द्वारा प्राप्त था। इनके पिता काशीनाथजी ज्योतिष के प्रकाण्ड पण्डित थे, जिन्होंने शीघ्रबोध नामक फलित ग्रन्थ बनाया है। इनके भाई बलभद्र मिश्र भी अच्छे भाषा-कवि थे। निस्सन्देह भाषा में कविता करना केशवदास ने अधिक उल्लास से प्रारम्भ नहीं किया था।

"भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाषाकवि भो मन्दमति, तेहि कुल केशवदास॥"

इनका प्रसिद्ध दोहा है :—

"केशव केसनि अस करी, जस अरिहू न कराहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं॥"

इनकी रसिकता पर यह अच्छा प्रकाश डालता है। बात यह है कि उद्दाम विलासिता के वातावरण में रहने के कारण इनके मुख से ऐसे शब्दों का न निकालना ही अस्वाभाविक होता। किन्तु पर-स्त्री के विषय के कटु अनुभव भी इन्हीं के मुख से सुनने लायक हैं :—

"पावक पापशिखा बड़भारी, जारति है नर को पर-नारी।"

इनका अतःकरण बुढ़ापे में सब सुख होते हुए भी 'शान्ति' के लिये तरसता होगा। तभी तो आप कहते हैं :—

"जगमाँझ है दुःखजाल।
सुख है कहाँ यहि काल॥"

रामचन्द्रिका, विज्ञानगीता, रसिकप्रिया, जहाँगीर-जस-चन्द्रिका, वीरसिंह देव चरित्र आदि इनके ग्रन्थ हैं। रतनबावनी नामक एक रचना उस

समय की मिली है जिस समय ये पाण्डित्य-प्रदर्शन के रोग से ग्रसित थे। 'दीन' के मतानुसार (१) छन्द शास्त्र सम्बन्धी कोई ग्रन्थ (रामालंकारमंजरी एवं (३) नख-सिख नामक ग्रन्थ इनके और हैं अप्राप्य हैं। इनकी कविप्रया और रसिकप्रिया पर दो टीकाएँ मिल हैं—एक आगरा के सुरतमिश्र की एवं दूसरी वनारस नरेश के आ 'सूरदास' एवं 'नारायण' नामक गुरु-शिष्यों की। रसिकप्रिया की टी जिसमें नारायण ने विशेष परिश्रम किया मालूम होता है, अधिक उ है। 'विज्ञानगीता' में शुष्क दार्शनिक विषय है जिसका प्रतिपादन दार्शनिक ढंग से होने के कारण वह जटिल हो गई है। रतनबावनी केशव की प्रारम्भिक प्रतिभा का पता चलता है, जिस समय ये प्रा परिपाटी के अनुसार कविता करने में अपना अपमान नहीं समझते यह पुस्तक वीर-रसात्मक काव्य का अच्छा नमूना है। जहाँगीर चन्द्रिका एवं वीरसिंहदेव-चरित्र भी अच्छी वर्णनात्मक पुस्तिकाएँ 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया' एवं 'रामचन्द्रिका' से इनकी कीर्ति स्थायी हुई है। पहले दो रीति-ग्रन्थ हैं जो रस एवं अलंकार पर हैं। उन्होंने काव्य के लक्षणों का अच्छा वैज्ञानिक विश्लेषण किया रसिकप्रिया में शृङ्गार को रसराज सिद्ध करते-करते यहाँ तक कह हैं कि शृङ्गार के अन्तर्गत वीभत्स जैसे रस भी आ सकते हैं। केशव उदाहरण देते हैं। किन्तु रसराज का यह मतलब नहीं कि सभी उसके अङ्ग हो ही जाँय। अस्तु कविप्रिया में आपने अलंकारों को महत्त्व देते हुए उनके (१) सामान्यालंकार एवं (२) विशेषालं ये दो भेद किये हैं। सामान्यालंकार के अन्तर्गत आपने कवि प्रौढ़ सिद्ध बातें भी ले ली हैं। इनके चार भेद किये गये हैं।

(१) वर्णालङ्कार (२) वर्ण्यालङ्कार (३) भूमिभूषण, (४) राजश्रीभूषण, जिनमें उपमान-उपमेय के रूप में कौन-कौन वस्तुएँ कहाँ कहाँ लाना चाहिये, एवं कौन-कौन सी वस्तुओं के वर्ण

कौन-कौन सी विशेषताओं का वर्णन करना चाहिये, इसका विवेचन किया गया है।

विशेषालंकारों में उपमा, रूपकादि प्राकृत अलङ्कारों का वर्णन है। केशव पण्डित होने के कारण अच्छे आचार्य थे। राजानक रुय्यक एवं भामह दण्डी आदि आचार्यों की बहुत सी बातें इन्होंने अपनाई हैं। प्राचीन कवियों में इनसे अधिक वैज्ञानिक विश्लेषण करने वाला आचार्य कोई नहीं हुआ है।

रामचन्द्रिका रामचन्द्रजी के जीवन से सम्बन्धित महाकाव्य है इसमें छन्दों की बहुलता, अलङ्कारों की करामात आदि कलापक्ष की बातें तो पर्याप्त मात्रा में हैं किन्तु हृदयपक्ष का प्रायः अपेक्षाकृत तिरोभाव सा है। राजनैतिक दाँव-पेंच, कूटनीति आदि के स्थलों पर तो केशव सफल हुए हैं, किन्तु मर्मस्पर्शी स्थलों की परख और उनका रसात्मक वर्णन करने में ये प्रायः असफल रहे हैं। मर्मस्पर्शी स्थलों की परख और उनका रसात्मक वर्णन करने में ये प्रायः असफल रहे हैं। मन्दोदरी की (लंकादहन के समय) कंचुकी जल जाती है। उस समय उस वीभत्सता में भी आपको वहाँ 'वशीकरण का चूर्ण' लगा दिखाई देता है।

इसी से इनको हृदयहीन कहा जाता है।

किन्तु सीताजी की अग्नि-परीक्षा के वर्णन में इन्होंने बड़े औचित्य से काम लिया है। सीताजी के सभी विशेषण प्रसङ्गानुकूल हैं :—

"महादेव के नेत्र की पुत्रिका सी,
किधौं संग्राम की भूमि में चण्डिका-सी।
किधौं रत्नसिंहासनस्था शची है,
किधौं रागिनी राग पूरे रची है।।" आदि

सीताजी की अग्नि-परीक्षा के दृश्य से केशवदासजी बड़े प्रभावित थे। उन्होंने उसका अन्यत्र भी बड़ी सहृदयता से वर्णन किया है।

"थे कठिन काव्य के प्रेत थे" दास का यह कहना उतना ठीक न होता यदि इनकी रचनाओं में सिर खपाने के बाद पाठक को आनन्द लाभ होता। सूर, तुलसी के भी कठिन काव्य मिलते हैं, किन्तु नीरस नहीं। अलङ्कारों से केशव को इतना प्रेम है कि वे इनके प्रयोग में पात्रापात्र का भो ध्यान नहीं रखते हैं। वनगमन के समय सीताजी की शोभा का वर्णन ग्रामीण स्त्रियों द्वारा कराते हुए श्लेषों की भरमार कर दी है। इनमें श्लेषों की इतनी वाक्पटुता कहाँ सम्भव है?

रामचन्द्रिका में वस्तुनिर्वाह में कथा का क्रम अनेक स्थानों पर टूट गया है। छोटे-छोटे छन्दों में बड़ी-बड़ी बातें कह जाने की उत्कण्ठा में कहीं बड़े अनर्थ हो गये हैं। लोकरक्षक राम विरोधी राक्षस को केवल इसलिए मार डालते हैं कि श्री सीताजी उसे देख कर डर गई थीं। इसी प्रकार रामचन्द्रजी माता-पिता से मिले बिना ही 'विपिन मारग' में विराजने लगते हैं। इनका चरित्र-चित्रण भी इनकी राजनीति-निपुणता के कारण दूषित हो गया है। रामचन्द्रजी का सीताजी को अपनी माता की उपस्थिति में यह उपदेश देना कि हमेशा पति के चरणों का ध्यान रखना चाहिए इत्यादि केवल यही सूचित करता है कि वे सीता को साथ ले जाना चाहते थे। अस्तु, केशव के कथोपकथन निस्सन्देह बड़े प्रभावशाली होते हैं। राजसभा का वर्णन एवं उसकी शिष्टोचित मर्यादा के रक्षण में गोस्वामीजी से भी आगे बढ़ गये हैं। परशुराम संवाद, अङ्गद-रावण-संवाद आदि स्थलों पर इनका वर्णन-कौशल श्लाघ्य है। राम-रावण के बीच दूतों के वार्तालाप के रूप में इन्होंने राजनैतिक दाँव-पेचों का अच्छा वर्णन किया है।

इनकी भाषा संस्कृतगर्भित है। छन्द अगणित हैं जिसके कारण रस निर्वाह में धक्का लगता है। कारण यह है कि वे स्थान-स्थान पर परिवर्तित हो जाते हैं। बुन्देलखण्डी मुहाविरों एवं शब्दों का पर्याप्त प्रयोग इनकी भाषा की सुस्पष्ट विशेषता है।

मनोभावों के अनुरूप वाह्यरूप वर्णन केशव में बहुत कम स्थल

मिलते हैं। परशुराम एवं वृद्धा अनुसूया का रूप-वर्णन इस कथन के अपवाद हैं।

वाह्य दृश्यों के वर्णन में भी ये शब्दों के चमत्कार में ही फँसे रहते थे। प्रकृति के स्वाभाविक सौन्दर्य तक पहुँचने का प्रयत्न करना तो दूर, उसका समुचित चित्रण भी इनकी रचनाओं में नहीं मिलता पञ्चवटी में 'बेर' और 'अङ्क' के सिवा इनके काम की कोई वस्तु ही नहीं थी। सूर्योदय, सागर-वर्णन शरद् ऋतु वर्णन आदि में अप्रस्तुत पर इनका ध्यान अधिक रहता था और ढूँढ़-ढाँढ़ कर अप्रस्तुत लाने में ये कमाल कर देते थे। सागरादि के वर्णन में इनकी ये पंक्तियाँ उचित प्रकाश डालती हैं :—

(१) "चन्दन नीर तरंग तरंगित नागर कोउ कि सागर सोहै।"
(२) "कालिका कि बरखा हरषि हिय आई है।"

अस्तु, केशवदास को प्रकृति से प्रेम नहीं था। अपनी-अपनी रुचि होती है। केवल अप्रस्तुत कोष का क्रम ही देने के लिये कदाचित ये प्रकृति की अवश्यकता भी मानते थे। आप स्पष्ट ही कह देते हैं कि कमल चन्द्रादि पदार्थों में वास्तव में कुछ भी रमणीयता नहीं है। वे तो केवल बिना देखे ही (परम्परा से प्रस्तुत विधान में रखे जाने के कारण) अच्छे लगते हैं :—

"देखे मुख भावे अनदेखे ही कमल चन्द,
ताते मुख मुखै सखी कमलौं न चन्द री।"

प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति केशव की उदासीनता यहाँ पर मुखरित हो उठी है।

ढूँढ़ने पर इनकी रचनाओं में च्युतसंस्कृति आदि दोष मिल सकते हैं जो अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन की धुन के कारण इनमें आ गये हैं। जो हो, केशवदास आचार्य की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय स्थान रखते हैं। यदि "दूर की सूझ" एवं "जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि"

वाली उक्तियों में सत्य का किंचित् भी अंश है तो केशव उच्च श्रेणी के कवि थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन्हें "हिन्दी साहित्य का माघ" कहते हुए किसी को कोई आपत्ति न होनी चाहिये। अँग्रेजी गद्य में डाक्टर जॉनसान अथवा पद्य में मिल्टन को जो स्थान दिया जाता है, उनके ही समान उच्च स्थान 'केशव' को हिन्दी-साहित्य में देना चाहिये। सारांश यह है कि जहाँ गोस्वामी तुलसीदास जी भक्त पहले थे और कवि पीछे थे, वहाँ केशवदासजी कवि पहले थे और भक्त पीछे थे। कवित्व में भी भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की ओर उनका ध्यान अधिक था।

———

रामचन्द्रिका (पंचवटी-वन-वर्णन)

फल फूलन पूरे, तरुवर रूरे, कोकिल कुल कलरव बोलैं,
अति मत्त मयूरी, पियरस पूरी, वन बन प्रति नाचति डोलैं।
सारी शुक पंडित, गुणगण मंडित, भावनि में अरथ वखानैं,
देखे रघुनायक, सीय सहायक, मदन सरति मधु सब जानैं।

लक्ष्मण—

सब जाति फटी दुख की दुपटी कपटी न रहे जहँ एक घटी,
निघटी रुचि मीच घटी हूँ घटी जग जीव यतीन की छूट तटी।
अघ ओघ की वेरी कटी बिकटी निकटी प्रकटी गुरुज्ञान गटी,
चहुँ ओरन नाचति मुक्ति नटी गुण धूरजटी वन पंचवटी॥

शोभत दंडक की रुचि बनी, भाँतिन भाँतिन सुन्दर घनी।
सेब बड़े नृप की जनु लसै, श्रीफल भूरि भाव जहँ बसै॥
वेर भयानक सी अति लगै, अर्क समूह जहाँ जगमगै।
नैनन को वहुरूपन ग्रसै, श्रीहरि की जनु मूरति लसै॥

राम—

पांडव की प्रतिमा सम लेखौ,
अर्जुन भीम महामति देखौ।
है सुभगा सम दीपति पूरी,
सिंदुर की तिलकावलि रूरी॥
राजति है वह ज्यों कुलकन्या,
धाइ बिराजति है संग धन्या।
केलि थली जनु श्री गिरजा की,
शोभा धरे शितकंठ प्रभा की॥

गोदावरी-वर्णन

अति निकट गोदावरी पाप संहारिणी,
चल तरंग तुंगावली चारु संचारिणी।
अलि कमल सौगंध लीला मनोहारिणी,
बहु नयन देवेश शोभा मनोधारिणी॥

रीति मनो अविवेक की थापी,
साधुन की गति पावत पापी।
कंजज की मति सी बड़भागी,
श्रीहरि मन्दिर सों अनुरागी॥

निपट पतिव्रत धरणी, जग जन के दुख हरणी।
निगम सदागति सुनिये, अगति महापति गुनिये॥

विषमय यह गोदावरी, अमृतन को फल देति।
'केशव' जीवनहार को, दुख अशेष हरि लेति॥

———

मीरा

राठौरों की मेड़तिया शाखा में जन्म लेकर मीराबाई ने उसे गौरवान्वित किया है। खेद है कि इनके जन्म और मरण के काल पर ही नहीं किन्तु जीवन सम्बन्धी अनेक घटनाओं पर भी विद्वान लोग एकमत नहीं हो सके हैं। आधुनिक अन्वेषण के आधार पर निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं :—
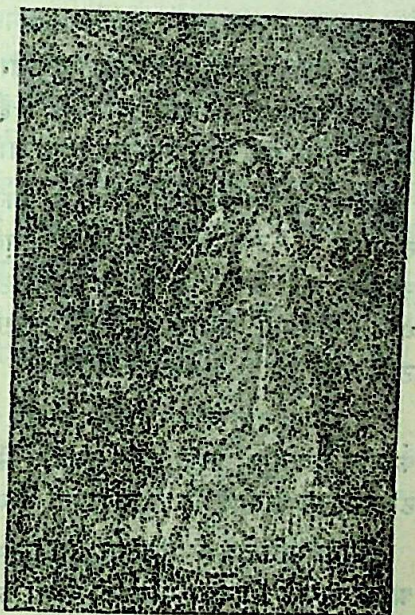
मीरा

आप राव दादूजी के चतुर्थ पुत्र रत्नसिंहजी की इकलौती पुत्री एवं प्रसिद्ध राना साँगा के बड़े पुत्र भोजराज की पत्नी थीं। इनका जन्म-संवत् १५६० के आस-पास हुआ था। १५७२ में विवाह हुआ, एवं संवत् १५८० में भोजराज इस संसार से चल बसे। कुछ दिनों बाद महाराना संग्रामसिंह को खानवा के युद्ध में पराभव प्राप्त हुआ, एवं उसी में मीरा के पिता राव रत्नसिंहजी काम आये। वैसे तो मीरा बचपन से ही गिरधारीलाल के चरणों पर अपना सर्वस्व निछावर कर चुकी थी, किन्तु इन सांसारिक आपत्तियों ने उसे अपने मार्ग में और भी दृढ़ कर दिया।

कहा जाता है कि इनके दीक्षा-गुरु रैदास थे किन्तु भक्तमाल से सिद्ध होता है कि रैदास झाँसी की किसी रानी के गुरु थे। वैसे रैदास का

काल भी मीरा से पूर्व है। मीरा ने सम्भवतः किसी को अपना गुरु नहीं बनाया। जीव गुसाईं को तो उन्होंने गुरु बनाने से स्पष्ट इन्कार कर दिया था। एवं चौरासी वैष्णवों की वार्ता से पता चलता है कि मीरा ने वल्लभ कुल की शिष्यवृत्ति स्वीकार नहीं की थी।

जिस राणा ने इन्हें अत्यन्त कष्ट दिये, वह संग्रामसिंह के उत्तराधिकारी विक्रमादित्य थे, जिनकी दुष्टता से मेवाड़ के उज्ज्वल इतिहास के पृष्ठ कलंकित हैं। इन्हें वाद में इन्हीं के सरदारों ने पदच्युत कर दासीपुत्र वनवीर को राना वना दिया था।

मीरावाई ने अपने जीवन का अधिकांश समय वृन्दावन में बिताया। सम्भवतः १६१२-१३ में व्रजभूमि में मुग़लों का उपद्रव होने पर वे वापस उदयपुर चली आईं हों, क्योंकि मेड़ता उनके भाई का स्थान आपद्ग्रस्त था। इसी समय सम्भवतः इन्होंने तुलसीदासजी को पत्र लिखा था जो उन्हें संवत् १६१६ के पश्चात् मिला।

इसके पश्चात् वे द्वारावती गईं एवं वहीं अनुमानतः संवत् १६२०-३० के बीच देवत्व को प्राप्त हुईं। गुजरात में इनके पदों के प्रचार से यह बात ठीक मालूम होती है कि वे द्वारावती में बहुत समय तक रहीं।

मीरा भक्तिक्षेत्र में जितनी महान् थीं उतनी ही कविता क्षेत्र में आदरणीय हैं। इनकी भक्ति ही वाणी का आवरण पहिन कर कविता के रूप में प्रकट हुई थी और यही कारण है कि मीरा के पद हिन्दी साहित्य के समस्त कवियों से अधिक तीव्र और मर्मस्पर्शी हुए। मीरा के हृदय में वेदना थी और वह मनुष्य-मात्र के हृदयजनित कसक थी। उन्होंने कभी भी काव्य-रचना का प्रयत्न नहीं किया। इनके पद, आवेश में निकले हुए इनके आन्तरिक गूढ़ातिगूढ़ भावों के स्पष्ट चित्र हैं। इनके हृदय में कवि होकर यश प्राप्त करने की कभी लालसा उत्पन्न नहीं हुई और न इन्हें इसका पता था कि इनके उच्छ्‌वास एक दिन काल के अक्षय भण्डार के रूप में संकलित किये जायँगे।

माधुर्य भाव प्रधान होने के कारण मीरा के गीत, गीतकाव्य के रूप में निर्मित हुए। छन्दों की अपेक्षा राग-रागनियों का मानव हृदय से अधिक सम्बन्ध भी है। इनके सभी पद स्वर एवं लय से समन्वित हैं। आत्मानुभूति, व्यक्तित्व, संगीत एवं भावना प्राधान्य के कारण मीरा के यह गीत आदर्श रूप हैं। और कवियों ने गोपियों के मुख से विरह-निवेदन कराया है किन्तु मीरा ने स्वयं अपना विरह निवेदन किया है, क्योंकि वे गिरधर नागर को ही अपना पति मानती थीं। इसीलिए इनके विरह में अनुभूति की तीव्रता है। हार्दिक वेदना ही इनकी कविता को बल प्रदान कर कला के अभाव की पूर्ति कर देती है। इनके पदों में भावना की कोमलता के साथ संगीत का माधुर्य है जो मन को मुग्ध कर देता है।

मीरा की भाषा राजस्थानी है। तत्कालीन राजस्थानी गुजराती से बहुत कुछ मिलती थी, अतः गुजराती साहित्यसेवी मीरा को अपनी ओर खींच रहे हैं।

———

हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी; मेरा दरद न जाणै कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस बिधि सोणा होय।
गगन-मण्डल पै सेज पिया की, किस बिधि मिलणा होय॥
घायल की गति घायल जानै, की जिन लाई होय।
जौहरी की गति जौहरी जानै, की जिन जौहर होय॥
दरद की मारी बन-बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोय।
'मीरा' की प्रभु पीर मिटैगी, जब बैद सँवलिया होय॥

बंसी!वारो आयो म्हारे देस, थाँरी साँवली सुरत वाली बेस।
आऊँ आऊँ कर गया साँवरा, कर गया कोल अनेक।
गिणते-गिणते घिस गई उँगली, घिस गई उँगली की रेख॥
मैं बिरागिण आदि की थाँरे, म्हारे कद का संदेस।
बिन पाणी बिन साबुन साँवरा, हुइ गई धुई सपेद॥
जोगिण हुई जंगल सब हेरूँ, तेरा नाम न पाया भेस।
तेरी सुरत के कारण धर लिया भगवा भेस॥
मोर मुकुट पीताम्बर सोहै, घूँघर वाला केस।
'मीरा' को प्रभु गिरधर मिल गये दूना बढ़ा सनेस॥

बसो मेरे नैनन में नन्दलाल।
मोहनी मूरति साँवरि सूरत नैना बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजति उर बैजन्ती माल॥
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित नूपर शब्द रसाल।
'मीरा' प्रभु सन्तन सुखदाई भक्त बछल गोपाल॥

करम गति टारै नाहिं टरे।
सतवादी हरिचन्द से राजा, नीच घर नीर भरे
पाँच पाण्डु अरु कुन्ती द्रोपदी हाड़ हिमालय गरे॥

यज्ञ किया बलि लेण इन्द्रासन सो पाताल धरे।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, विष से अमृत करे॥

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई।
दूसरा न कोई साधो, सकल लोक जोई॥
भाई छोड्या, बन्धु छोड्या, छोड्या सगा सोई।
साधु संग बैठ बैठ, लोक लाज खोई॥
भगत देख राजी हुई, जगत देख रोई।
अँसुवन जल सींच सींच, प्रेम बेलि बोई॥
दधि मथि घृत काढ़ लियो, डार दई छोई।
राणा विष का प्याला भेजो, पीय मगन होई॥
अब तो बात फैल पणी, जाण सब कोई।
'मीरा' राम लगण लागी; होणी होय सो होई॥

मन रे परसि हरि के चरण।
सुभग सीतल कमल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरन।
जे चरन प्रह्लाद परसे, इन्द्र पदवी धरन॥
जिन चरन ध्रुव अटल कीन्हों, राखि अपने सरन।
जिन चरन ब्रह्मांड भेंट्यो, नख सिखौ श्री भरन॥
जिन चरन प्रभु परसि लीने, तरी गौतम घरन।
जिन चरन कालीहि नाथ्यो, गोपलीला करन॥
जिन चरन धरियो गोबर्द्धन, गरब मघवा हरन।
'दास मीरा' लाल गिरिधर, अगम तारन तरन॥

नातो नाम का मो सूँ तनक न तोड्यो जाय।
पान ज्यों पीलो पड़ी रे, लोग कहैं पिंड रोग।
छाने लाँघन मैं किया रे, राम मिलन के योग॥
बाबुल वैद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
मूरख वैद मरम नहिं जाने, कारक कलेजे माँह॥

जाऔ वैद घर आपने रे, म्हारे नाँव न लेय।
मैं तो दाधी बिरह की रे, काहे कूँ औषध देय॥
माँस गलि गलि छीजिया रे, करक रह्या गल माँहि।
आँगुलियाँ की मूदड़ी म्हाँरे, आवन लागी बाँहि॥
रहु रहु पापी पपीहा रे, पिय को नाम न लेय।
जो कोई बिरहन साम्हले तो, पिय कारन जिव देय॥
खिन मन्दिर खिन आँगने रे, खिन खिन ठाड़ी होय।
घायल ज्यूँ घूमूँ खड़ी, म्हारी विथा न बूझै कोय॥
काटि कलेजी मैं धरूँ रे, कौआ तू ले जाय।
ज्याँ देसाँ म्हारो पिव बसै रे, वे देखत तू खाय॥
म्हारे नातो नाम को रे, और न नातो कोय।
'मीरा' व्याकुल बिरहिनी रे पिय दरसन दीजो मोय॥

———

बिहारी

जीवन-वृत्त—

कविवर बिहारीलाल का जन्म संवत् १६६० में माना जाता है। इनकी सतसई की समाप्ति की तिथि निश्चित है।

> संवत ग्रह शशि जलधि छिति, तिथि छठ वासर चन्द।
> चैत मास पख कृष्ण में, पूरन आनन्द कन्द॥

ग्रह = ९ शशि = १ जलधि = ७ छिति = १।

इस हिसाब से यह तिथि १७१९ बैठती है। यदि जन्म-संवत् १६६० मान लिया जाय तो सतसई के समाप्त होते समय उनकी अवस्था ५९ वर्ष की होगी। उनके आश्रयदाता मिरजा राजा जयशाह का शासन-काल १६७६--१७२२ था। इस आधार पर जन्म संवत् १६६० ठीक प्रतीत होता है। इनके कुल और जन्म-स्थान के सम्बन्ध में नीचे के दोहे प्रसिद्ध हैं:—
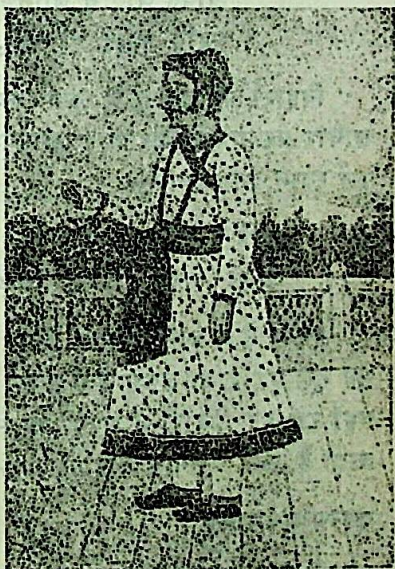
बिहारीलाल

> क—प्रकट भये द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
> मेरो हरौ कलेस सब, केसो केसो राइ॥
> ख—जन्म ग्वालियर जानिए, बुन्देले बाल।
> तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥

इनके पिता केशवराय भगवान कृष्ण की भाँति अपनी इच्छा से व्रज में आकर बसे थे। इनका जन्म ग्वालियर के निकट बसुआ गोविन्द-पुर में हुआ था और बचपन बुन्देलखण्ड में बीता था। जवानी उन्होंने अपनी ससुराल मथुरा में बिताई थी। ऐसा मालूम होता है कि ससुराल में नित्य रहने के कारण वहाँ उनका यथोचित आदर नहीं होता था। यह बात नीचे के दोहे से व्यञ्जित होती है :—

आवत जात न जानिये, तेजहिं तज सियरानु।
घरहिं जमाई लौं धस्यै, खरो पूस दिन मानु॥

बिहारी ससुराल छोड़ कर जयपुर आये। वहाँ नीचे के दोहे के आधार पर उन्होंने मिरजा राजा जयशाह के दरबार में अपने लिये आदर-पूर्ण स्थान बना लिया—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों विंध्यौ, आगे कौन हवाल॥

इस दोहे ने जादू का काम किया। नवागत रानी के प्रेम में प्रजा की सुध भूले हुए राजा जयशाह ने अपना राजकाज देखना आरम्भ कर दिया। वहाँ रह कर बिहारी ने अपनी सतसई के सात सौ दोहे लिखे। कहा जाता है, उन्हें एक-एक दोहे पर एक-एक अशर्फी मिली थी।

काव्य-सुषमा—

बिहारी ने कोई लक्षण-ग्रन्थ तो नहीं लिखा, किन्तु उनकी सतसई में शृङ्गार रस के सभी अङ्ग के उदाहरण आ गये हैं और उनमें बहुत से अलङ्कारों के भी उदाहरण मिल जाते हैं। कहीं-कहीं तो एक-एक दोहे में कई-कई अलङ्कार आ गये हैं।

बिहारी ने दोहे जैसे छोटे छन्द में अनेकों भावों और दृश्यों का समावेश कर गागर में सागर भरने की बात को चरितार्थ कर दिया है।

बिहारी ने ब्रजभाषा के सहज माधुर्य गुण का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। उनके दोहे भाषा और भाव, दोनों ही दृष्टियों से खरे उतरते हैं। तभी तो कहा गया है :—

सतसैया के दोहरा, ज्यों नाविक के तीर।
देखत में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर ॥

———

सतसई

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परै, स्याम हरित दुति होइ॥
मोर-मुकट, कटि-काछनी, कर मुरली, उर माल।
यहि बानिक मो मन बसो, सदा बिहारीलाल॥

मैं देख्यौ निरधार, यह जग काँचो काँच सो।
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियत तहाँ॥
जप माला, छापा, तिलक, सरै न एकौ काम।
मन-काँचे नाचे वृथा, साँचे राचे राम॥

ब्रजबासिन को उचित धन, जो धनरुचि तन कोय।
सु-चित न आयो सुचितई, कहौ कहाँ ते होय॥
मोर-मुकुट की चन्द्रिकनि, यों राजत नँद-नंद।
मनु ससि सेखर की अकस, किय सेखर सत चंद॥

को छूट्यो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों-त्यों उरझत जात॥
चिरजीवो जोरी जुरै, क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि, ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

मोहि तुम्हें बाढ़ी बहस, को जीते ब्रजराज।
अपने-अपने बिरद की, दुहूँ निबाहत लाज॥
नीकी करी अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
मनो तज्यो तारन बिरद, बारक बारन तारि॥

कब को टेरत दीन रट, होत न स्याम सहाय।
तुमहूँ लागी जगतगुरु, जगनायक, जग-बाय॥
कौन भाँति रहि है बिरद, अब देखिबी मुरारि।
बीधे मोसों आनि कै, गीधे गीधहिं तारि॥

थोरेई गुन रीझबो बिसराई वह बानि।
तुमहूँ कान्ह मनो भए आजु काल्हि के दानि॥

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहि काल।
अली कली ही सों बिंध्यौ, आगे कौन हवाल॥

जो सिर धरि महिमा मही लहियत राजा-राय।
प्रगटत जड़ता आपनी सुमुकुट पहिरत पाय॥

सीतलता रस बास की, घटै न महिमा मूर।
पीनसवारे जौ तजै, सोरा जानि कपूर॥

बड़े न हूजे गुननि बिनु, बिरद बड़ाई पाय।
कनक धतूरे सों कहत, गहनों गढ़ो न जाय॥

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
यह खाये बौरात नर, वह पाये बौराय॥

बढ़त-बढ़त संपति-सलिल, मन-सरोज बढ़ि जाय।
घटत-घटत नहिं पुनि घटै, बरु समूल कुम्हिलाय॥

मीत न नीत गलीत यह, जों धरिए धन जोरि।
खाए खरचे जो बचे, तो जोरिए करोरि॥

सघन कुंज छाया सुखद, सरसिज सुरभि समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहैं, उहि जमुना के तीर॥

भूषन-भार सम्हारि, क्यों यह तन सुकमार।
सूधे पाँय न परत धरि, सोभा ही के भार॥

तन भूषन, अंजन दृगन, पगन महावर रंग।
नहिं सोभा को साजियतु, कहिबे ही को अंग॥

नह्यो ऐंचि अन्त न लहै, अवधि दुसासन-बीरु।
आली बाढ़त बिरह ज्यों, पंचाली को चीरु॥

हौं ही बौरी बिरह बस, कै बौरो सब गाँव।
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहिं सीतकर नाँव॥

कहा भयो जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ।
उड़ी जाहु कितहू गुड़ी तऊ उड़ायक हाथ॥
छकि रसाल-सौरभ सने, मधुर माधवी-गंध।
ठौर-ठौर झौंरत झपत, भौंर भीर मधु-अंध॥

धुरवा होहिं न लखि उठै, धुवाँ धरति चहूँ कोद।
जारत आवत जगत को, पावस प्रथम पयोद॥
चुवत स्वेद मकरन्द-कन, तरु-तरु तर बिरमाय।
आवत दक्खिन तें चल्यो, थक्यो बटोहीबाय॥

रुक्यो साँकर कुंज मग, झरत झाँझि झुकरात।
मन्द-मन्द मारुत तुरंग, खुदरत आवत जात॥
रनित भृङ्ग-घंटावली, झरत दान मधु नीर।
मन्द-मन्द आवत चल्यो, कुञ्जर कुञ्ज-समीर॥

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु-बीत बहार।
अब अलि रही गुलाब की, अपत कटीली डार॥
को कहि सके बड़ेन सों, करत बड़ी ये भूल।
दीनी दई गुलाब की, इन डारन ये फूल॥

दिन दस आदर पाय !के, करि लै आपु बखान।
जौ लगि काग सराध पख, तौ लगि तो सनमान॥
मरत प्यास पिंजरा-पर्‌यो, सुआ समै के फेर।
आदर दै-दै बोलियत, बायस बलि की बेर॥

यहि आसा अटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल।
ऐहै बहुरि बसंत ऋतु, इन डारन वै फूल॥
पटु-पाँखैं भकु काँकरैं सपर परेई सङ्ग।
सुखी परेवा पुहिमि में, तू ही एक विहंग॥
कर लै सूँघि सराहि कैं, सबै रहै गहि मौन।
गंधी गंध गुलाब को, गँवई गाहक कौन?॥

पिंजरा

वे न इहाँ नागर बड़े, जिन आदर तो आब।
फूल्यो अनफूल्यो भयो, गँवई गाँव गुलाब॥
गोधन, तू हरष्यो हिए, निधरक लेहि पुजाय।
समुझि परैगो सीस पर, परत पसुन के पाय॥

चलत पाय निगुनी गुनी, धन मनि मुतियन माल।
भेंट भए जय साहिसों, भाग चाहियतु भाल॥
स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा, देखि बिहंग बिचारि।
बाज पराए पानि पर, तू पंछीनु न मारि॥

दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईं नहिं भूलि।
दई-दई कत करत है, दई-दई सु कबूलि॥
भजन कह्यो ताते भज्यो, भज्यो न एकौ बार।
दूर भजन ताते कह्यो, सो तैं भज्यो गँवार॥

प्रलय करन बरसन लगे, जुरि जलधर एक साथ।
सुरपति गरब हर्यौ हरषि, गिरिधर गिरि धरि हाथ॥
त्यों-त्यों प्यासेई रहत, ज्यों-ज्यों पियत अघाइ।
सगुन सलौने रूप की, जनु चख-तृषा बुझाइ॥

या भव-पारावार को उदधि पार को जाइ।
तिय-छवि छाया-ग्राहनी, गहै बीच ही आइ॥
जगत जनायो जिहि सकल, सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखिए, आँख न देखी जाहिं॥

तौ लगि या मन सदन में, हरि आवै किहि बाट।
बिकट जटे जौ लगि निपट, खुलै न कपट-कपाट॥
जो चाहै चटक न घटै, मैलो होय न मित्त।
रज-राजस न छुवाइ तो, नेह-चीकने चित्त॥
समै-समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय॥

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुरचित प्रीति।
परत गाँठ दुर्जन हिए, दई नई यह रीति॥
बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहन हँसे, दैन कहै नटि जाय॥
लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥
गुनी गुनी सब ही कहै, निगुनी गुनी न होत।
सुन्यौ कहूँ तरु अरक को, अरक-समान उदोत ?॥
कहत सबै स्रुति, सम्रृति हूँ, सबै पुरातन लोग।
तीन दबावें नीस कै, पातक, राजा, रोग॥
सबै हँसत कर तारि दै, नागरता के नाउँ।
गयो गरब गुन को सबै, बसै गमेले गाँउ॥
नर की अरु नल नीर की, गति एकै कर जोइ।
जेतो नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ॥

———

जगन्नाथदास रत्नाकर, बी० ए०

कवि-परिचय—

जगन्नाथदास रत्नाकर का जन्म सं० १९२३ में काशीधाम में हुआ। आप अग्रवाल वैश्य थे। संवत् १९८९ में आपकी मृत्यु हरिद्वार में हुई। आपने फारसी लेकर एम० ए० की तैयारी की किन्तु कारणवश परीक्षा न दे सके। आपने कुछ काल तक अवागढ़ में नौकरी की। तत्पश्चात् आप अयोध्या-नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी हो गये। उनकी मृत्यु के अनन्तर महारानी के प्राइवेट सेक्रेटरी भी बहुत समय तक रहे।

जगन्नाथदास रत्नाकर, बी० ए०

बतलाते हैं कि इनके विषय में भारतेन्दु ने कहा था—"यह लड़का होनहार सिद्ध होगा।" समय पाकर यह उक्ति चरितार्थ हुई। आप सांसारिक प्रपंचों में पड़कर कविता करना एक दम छोड़ देते थे, परन्तु वर्षों के विराम के पश्चात् फिर साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होकर अपनी प्रतिभा से हिन्दी-संसार को चकित कर देते थे। गङ्गावतरण के समय आपका काव्य-क्षेत्र-प्रवेश ही इसका उदाहरण है।

आप साहित्य-सेवा में तन-मन-धन सभी लगा देते थे। आपने सूरसागर का सम्पादन बड़े जोर-शोर से किया था, परन्तु क्रूर काल ने इस कार्य को पूरा न होने दिया। आजकल नागरी प्रचारिणी सभा, काशी उक्त कार्य को पूरा कर रही है। अन्य कई दुर्लभ-काव्य-ग्रन्थों का

भी आपने सम्पादन किया था। आप सं० १६८६ में कलकत्ते के बीसवें साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी बनाये गये थे।

ब्रजभाषा के उपासकों में सम्भवतः 'रत्नाकरजी' अन्तिम थे, किन्तु भाषा की प्राञ्जलता, उक्तियों का जो सुष्ठु प्रयोग, चित्रोत्तमता का जो नयनाभिरामत्व, अनुभावों का जो सचित्र चित्रण आप में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ब्रजभाषा की व्यंजकता एवं एकरूपता स्थिर करने में आपने साहित्योचित शिष्टता से काम लिया है।

आपकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) गङ्गावतरण।

(२) उद्धवशतक।

(३) हरिश्चन्द्रकाव्य।

(४) बिहारी रत्नाकर (सतसई टीका)।

इनकी कविताओं का संग्रह 'रत्नाकर' नाम से नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित किया गया है।

रत्नाकरजी ब्रजभाषा के अनन्यतम उपासक थे। अपनी आँखों से आपने आधुनिक हिन्दी साहित्य के तीनों काल देखे थे। खड़ी बोली के आन्दोलन ने जहाँ राय देवीप्रसाद या पं० श्रीधर पाठक जैसे साहित्य-सेवियों को खड़ी बोली की ओर मोड़ लिया था, वहाँ रत्नाकरजी अपने स्थान पर ही अचल रहे। आपकी भाषा (विशेषकर गङ्गावतरण की) बड़ी ओजमयी है। आपने मुहाविरों का भी बड़ा सार्थक रूप से प्रयोग किया है। उद्धवशतक की आत्मा भक्तिकाल की है किन्तु उसका शरीर रीतिकाल का सा है। उसके छन्दों में रीतिकालीन कविता के अलंकार प्रचुरता के साथ मिलते हैं। प्राचीन विषयों में भी रत्नाकरजी ने अपने काव्य-शौष्ठव और उक्तिवैचित्र्य के कारण एक नवीनता उत्पन्न कर दी है। आपके कवित्त, सवैये बड़े सरस और प्रवाहमय हैं, किन्तु कहीं-कहीं

अलङ्कार-बाहुल्य के कारण उनका सहज माधुर्य्य दब सा जाता है। आपकी व्रजभाषा अधिक संस्कृत-गर्भित, साहित्यिक और व्याकरण-सम्मत है।

आपका उद्धवशतक लाक्षणिकता की दृष्टि से अद्वितीय है। कई अलंकारों का जिनका नामकरण भी हिन्दी साहित्य में नहीं हुआ है, आपने प्रयोग किया है। 'गङ्गावतरण' का महत्त्व इस कारण और भी बढ़ जाता है कि व्रजभाषा में प्रबन्धकाव्य प्रायः नहीं के बराबर हैं।

[उद्धव के प्रति गोपियों का वचन]

रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगनि के
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन
देत न सुदर्शन हूँ यौं सुधि बिसराई हैं॥

करत उपाय न सुभाय लखि नारिनि कौ
भाय क्यौं अनारिनि कौ भरत कन्हाई हैं।
ह्याँ तो विषमज्वर-वियोग की चढ़ाई यह
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं॥

ऊधौ कह्यौ सूधौ सौ संदेश पहिले तौ यह
प्यारे परदेश तैं कबै धौं पग पारिहैं।
कहै 'रत्नाकर' तिहारी परि बातनि मैं
मोड़ि हम कबलौं करेजो मन मारिहैं॥

लाइ-लाइ पाती छाती कब लौं सिरैहैं हाय
धरि-धरि ध्यान धीर कब लगि धारिहैं।
बैननि उचारिहैं उराहनौ कबै धौं सबै
स्याम को सलौनो रूप नैननि निहारिहैं॥

षटरस-व्यञ्जन तो रंजन सदा ही करैं
ऊधौ नवनीत हूँ सप्रीति कहूँ पावैं हैं।
कहै 'रत्नाकर' बिरद तौ बखानैं सबै
साँची कहौ केते कहि लालन लड़ावैं हैं॥

रतन-सिंहासन विराजि पाक सासन लौं
जग-चहुँ-पासनि तो सासन चलावैं हैं।

जाइ जमुना-तट पै कोऊ बट-छाँहि माहिं
पाँसुरी उमाहि कबौं बाँसुरी बजावैं हैं ॥
कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्म दूत ह्वै पधारे आप
धारे प्रनफेरन कौ मति ब्रजबारी की ।
कहै 'रत्नाकर' पै प्रीति-रीति जानत ना
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की ॥

मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम,
तो हूँ हमैं भावति न भावना अन्यारी की ।
जैहै बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की ।
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की ॥

चोप करि चंदन चढ़ायौ जिन अंगनि पै
तिन पै बजाय तूरि धूरि दरिबौ कहौ ।
रस-रतनाकर सनेह निरवारयौ जाहि
ता कच कौं हाय, जटा जूट बाँधिबौ कहौ ॥
चन्द अरबिंद लौं सराह्यौ ब्रजचन्द जाहि
ता मुख कौं काकचंचुवत् करिबौ कहौ ।
छेदि-छेदि छाती छलनी कै बैन-बाननि सौं
तामैं पुनि ताइ धीर-नीर धरिबौ कहौ ॥

गंगावतरण

तब नृप करि आचमन मारजन सुचि-रुचि कारी ।
प्रानायाम पुनीत साधि चित-वृत्ति सुधारी ॥
बहुरि अंजली बाँध ध्यान बिधि कौ विधिवत गहि ।
माँगी गंग उमंग-सहित पूरब प्रसंग कहि ॥
बद्ध-अंजली देखि भूप विनवत मृदु बानी ।
मुसकाने विधि आनि चित्त "चुल्लू भर पानी" ॥

लागे करन बिचार बहुरि जग-हित-अनहित पर।
पाप-पुन्य-फल-उचित-लाभ-मर्याद खचित पर॥
पुनि गुनि बर बरदान आपनौ औ शंकर कौ।
सगर-सुतन कौ साप-ताप तप नर-पति बर कौ॥
सुमिरि अखिल ब्रह्माण्डनाथ मन साथ नवायौ।
सब संसय करि दूरि गंग दैवौ ठिक ठायौ॥

किए सजग दिग-पाल व्याल-पति हृदय दृढ़ायौ।
कोल कमठ पुचकारि भूधरनि धीर धरायौ॥
स्वस्ति-मंत्र पढ़ि तनि तंत्र मुद-मंगल-कारी।
लियौ कमंडल हाथ चतुर चतुरानन-धारी॥

इत सुरसरि कौ धाम धमकि त्रिभुवन भय-भागे।
सकल सुरासुर बिकल बिलोकन आतुर लागे॥
दहलि दसौं दिग-पाल बिकल-चित इत उत धावत।
दिग्गज दिग दंतिन दबोचि दृग भभरि भ्रमावत॥

नभ-मंडल थहरात भानु-रथ थकित भयौ छन।
चंद चकित रह्‌ गयौ सकित सिगरे तारागन॥
पौन रह्यौ तजि गौन रह्यौ सब भौन सनासन।
सोचत सबै सकाइ कहा करि है कमलासन॥

बिंध्य-हिमाचल-मलय-मेरु-मंदिर हिय हहरे।
ठहरे जदपि पषान ठमकि तउ ठामहि ठहरे॥
थहरे गहरे सिंधु पर्व बिनहूँ लुरि लहरे।
पै उठि लहर-समूह नेकुँ इत उत नहि ढहरे॥

गंग कह्यौ उर भरि उमंग तौ गंग सही मैं।
निज तरंग-बल जौ हर-गिरि हर-संग मही मैं॥
लै सबेग-बिक्रम पताल-पुरि तुरत सिधाऊँ।
ब्रह्म-लोक कौ बहुरि पलटि कंदुक इव आऊँ॥

सिव सुजान यह जानि तानि भौंहनि मन भाषे।
बाढ़ी-गंग-उमंग-भंग पर उर अभिलाषे॥
भए सँभरि सन्नद्ध भंग कै रंग रँगाए।
अति दृढ़ दीरघ श्रृङ्ग देखि तापर चलि आए॥

बाघंबर कौ कलित कच्छ कटि-तट सौं नाथ्यौ।
सेसनाग कौ नागबंध तापर कसि बाँध्यौ॥
ब्याल-माल सौं भाल-बाल-चंदहि दृढ़ कीन्यौ।
जटा-जाल कौ झाल-ब्यूह गह्वर कर लीन्यौ॥

मुंड-माल यज्ञोपवीत कटि-तट अटकाए।
गाड़ि सूल सृङ्गी डमरू तापर लटकाए॥
बर दाँहन कर फेरि चाँपि चटकाइ आँगुरिनि।
वच्छस्थल उमगाइ ग्रीव उचकाइ चाय भिनि॥

लमकि ताकि भुज-दण्ड चण्ड फरकत चितचोपे।
महि दबाइ दुहुँ पाय कछुक अन्तर सौं रोपे॥
मनु बल विक्रम-जुगल-खंभ जग थंभन हारे।
धीर-धरा पर अति गंभीर-दृढ़ता-जुत धारे॥

जुगल कंध बल-साध हुमकि हुमसाइ उचाए।
दोउ भुज-दण्ड उदण्ड तोलि ताने तनकाए॥
कर जमाइ करिहायँ नैन नभ-ओर लगाए।
गंगागम की बाट लगे जोहन हर ठाए॥

बल विक्रम पौरुष अपार दरसत अँग-अँग तैं।
बीर रौद्र दोउ रस उदार झलकत रग-रग तैं॥
मनहु भानु-सितभानु-किरन-बिरचित पट बर की।
झलक दुरंगी देति देइ द्युति सिवसंकर की॥

बचन-बद्ध त्रिपुरारि ताकि सन्नद्ध निहारत।
दियौ ढारि बिधि गंग-वारि मंगल उच्चारत॥

चली विपुल-बल-बेग बलित बाढ़ति ब्रह्मद्रव।
भरति भुवन भय-भार मचावति अखिल उपद्रव॥
निकसि कमंडल तैं उमंडि नभ-मण्डल खंडति।
धाई धार अपार बेग सौं वायु बिहंडति॥
भयौ घोर अति शब्द धमक सौं त्रिभुवन तर्जे।
महामेघ मिलि मनहु एक संगहिं सब गर्जे॥
भरके भानु-तुरंग चमकि चलि मग सौं सरके।
हरके बाहन रुकत नैकुँ नहिं बिधि हरिहर के॥
दिग्गज कर चिक्कार नैन फेरत भय थरके।
धुनि प्रतिधुनि सौं धमकि धराधर के उर धरके॥
कढ़ि-कढ़ि गृह सौं बिबुध बिबिध जाननि पर चढ़ि-चढ़ि।
पढ़ि-पढ़ि मंगल पाठ लखत कौतुक कछु बढ़ि-बढ़ि॥
सुर-सुन्दरी ससंक बंक दीरघ दृग कीने।
लगीं मनावन सुकृत हाथ कानति पर दीने॥
निज दरेर सौं पौन पटल फारति फहरावति।
सुर-पुर के अति सघन घोर घन घसि घहरावति॥
चली धार धुधकारि धरा-दिसि काटति कावा।
सगर सुतनि के पाप-ताप पर बोलति धावा॥
बिपुल बेग सौं कबहुँ उमँग आगे कों धावति।
सौ-सौ जोजन लौं सुढार ढरतिहिं चलि आवति॥
फटिक सिला के बर बिसाल मन बिस्मय बोहत।
मनहु बिसद छद अनाधार अम्बर में सोहत॥
स्वाति-घटा घहराति मुक्त पानिप सौं पूरी।
कैधौं आवति झुकति सुभ्र-आभा-रुचि रूरी॥
मीन-मकर जलव्यालनि की चल चिलक सुहाई।
सो जनु चपला चमचमाति चञ्चल छबि-छाई॥

रुचिर रजतमय कै बितान तान्यो अति बिस्तर।
झिरति बूँद सो झिलमिलाति मोतिन की झालर॥
ताके नीचैं राग-रंग के ढङ्ग जमाए।
सुर-बनितनि कै वृन्द करत आनन्द-बधाए॥

बर-बिमान गज-बाजि-चढ़े जो लखत देव-गन।
तिनके तमकत तेज दिव्य दमकत आभूषन॥
प्रतिबिंबित जब होत परम प्रसरित प्रबाह पर।
जानि परत चहुँ ओर उए बहु बिमल बिभाकर॥

कबहुँ सु-धार अपार-बेग नीचे कौं धावै।
हरहराति लहराति सहस जोजन चलि आवै॥
मनुबिधि चतुर किसान पौन निज मन कौ आवत।
पुन्य-खेत उत्पन्न हीर की रासि उसावत॥

कै निज नायक बंध्यो बिलोकत ब्याल-पास तैं।
तारनि की सेना उदण्ड उतरति अकास तैं॥
कै सुर-सुमन-समूह आनि सुरजूह जुहारत।
हर हर करि हर-सीस एक संगहि सब डारत॥

छहरावति छबि कबहुँ कोउ सित सघन घटा पर।
फबति फैलि जिमि जोन्ह-छटा हिम-प्रचुर-पटा पर॥
तिहिं घन पर लहराति लुरति चपला जब चमकै।
जल प्रतिबिंबित दीप-दाम-दीपति सी दमकै॥

कबहुँ वायु-बल फूटि छूटि बहु बपु धरि धावै।
चहुँ दिसि तैं पुनि डटति सटति सिमटति चलि आवै॥
मिलि मिलि द्वै-द्वै चार-चार सब धार सुहाई।
फिर एकै ह्वै चलति कलित बल बेग बढ़ाई॥

जैसे एकै रूप प्रबल मायाबस मैं परि।
बिचरति जग मैं अति अनूप बहु बिलग रूप धरि॥

पै जब ज्ञान-निधान ईस सनमुख लै आवैं।
तब एकै ह्वै बहुरि अमित आतम बल पावैं॥

जल सौं जल टकराइ कछूँ उच्छलत उमंगत।
पुनि नीचैं गिरि गाजि चलत उत्तंग तरंगत॥
मनु कागदि कपोत गोत के गोत उड़ाए।
लरि अति ऊँचैं उलरि गोति गुथि चलत सुहाए॥

कहूँ पौन-नट निपुन गौन कौ बेग उघारत।
जल-कंदुक के वृन्द पारि पुनि गहत उछारत॥
मनौ हंस-गन मगन सरर-बादर पर खेलत।
भरत भाँवरैं जुरत मुरत उलहत अवहेलत॥

कबहुँ वायु सौं बिचलि बंक-गति लहरति धावै।
मनहुँ सेस सित-बेस गगन तैं उतरत आवै॥
कबहुँ फेन उफनाइ आइ जल-तल पर राजै।
मनु मुकतनि की भीर छीर-निधि पर छबि छाजै॥

कबहुँ सुताड़ित ह्वै अपार-बल-धार-वेग सौं।
छुभित पौनि फटि गौन करत अतिसय उदेग सौं॥
देवनि के दृढ़ जान लगत ताके झकझोरे।
कोउ आँधी के पोत होत कोउ गगन-हिंडोरे॥

उड़ति फुही की फाब फबति फहरति छबि छाई।
ज्यौं परवत पर परत झीन बादर दरसाई॥
तरनि-किरन तापर बिचित्र बहु रंग प्रकासै।
इन्द्र-धनुष की प्रभा दिव्य दसहूँ दिसि भासै॥

मनु दिगंगना गंग न्हाइ कीन्हें निज अंगी।
नव-भूषन नव-रत्न-रचित सारी सत-रंगी॥
गंगागम-पथ माहिं भानु कैधौं अति नीकी।
बाँधी बंदनवार बिबिधि बहु पटापटी की॥

इहि बिधि धावति धँसति ढरति ढरकति सुख-देनी।
मनहुँ सवाँरति सुभ सुरपुर की सुगम नसेनी॥
विपुल-वेग बल बिक्रम कैं ओजनि उमगाई।
हरहराति हरषाति संभु सनमुख जब आई॥

भई थकित छवि छकित हेरि हर-रूप मनोहर।
ह्वै आनहि के प्रान रहे तन धरे धरोहर॥
भयो कोप कौ लोप चोप औरै उमगाई।
चित चिकनाई चढ़ी कढ़ी सब रोष रुखाई॥

छोभ-छलक ह्वै गई प्रेम की पुलक अंग मैं।
थहरन के ढरि ढङ्ग परे उछरति तरङ्ग मैं॥
भयो वेग उद्वेग पेंग छाती पर धरकी।
हरहरान धुनि विघटि सुरट उघटी हर-हर की॥

भयौ हुतौ भ्रू-भंग-भाव जो भव-निदरन कौ।
तामैं पलटि प्रभाव परयो हिय हेरि हरन कौ॥
प्रगटत सोइ अनुभाव भाव औरै सुखकारी।
ह्वै थाई उतसाह भयौ रति कौ संचारी॥

कृपानिधान सुजान संभु हिय की गति जानी।
दियौ सीस पर ठाम बाम करि कै मन मानी॥
सकुचति एँचति अंग-अंग सुख-संग लजानी।
जटा-जूट-हिम कूट सघन बन सिमिटि समानी॥

पाइ ईस कौ सीस-परस आनन्द अधिकायौ।
सोइ सुभ सुखद निवास बास करिबौ मन ठायौ॥
सीत सरस संपर्क लहत संकरहु लुभाने।
करि राखी निज अंग-गंग कैं रंग भुलाने॥

बिचरन लागी गंग जटा-गह्वर-बन-बीथिनि।
लहति संभु-सामीप्य-परम-सुख दिननि निसीथिनि॥
इहि बिधि आनँद मैं अनेक बीते संवत्सर।
छोड़त छुटत न बनत ठनत नव नेह परस्पर॥

यह देखि दुखित भूपति भए चित चिंता प्रगटी प्रबल।
अब कीजै कौन उपाय जिहिं सुरसरि आवै अवनि-तल॥

———

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

कवि परिचय—

साहित्यरत्न पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" सनाढ्य ब्राह्मण कुल-भूषण थे। सं० १९२२ में आजमगढ़ जिलान्तर्गत निजामाबाद नामक ग्राम को आपने अपने जन्म से गौरवान्वित किया था। बाबा सुमेरसिंह नामक एक सिक्ख धर्मोपदेशक निजामाबाद में निवास करते थे। उन्होंने वहाँ पर बच्चों की एक गोष्ठी बना रखी थी। उनके प्रभाव से आप आरम्भ में व्रजभाषा में कविता करते रहे। "हरिऔध" उपनाम तभी का रखा हुआ है। आपका जीवन अध्यापकी से प्रारम्भ होता है। तत्पश्चात् कानूनगोई पास कर सं० १९४५ में कानूनगो हो गये। उन्नति करते हुए सदर कानूनगो का पद प्राप्त कर आपने सं० १९८० में अवकाश ग्रहण किया। उसी वर्ष से आपने काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी-अध्यापक का कार्य किया। यह पद आपने पं० मालवीयजी के अनुरोधरक्षणार्थ स्वीकार किया था। आप सरल हृदय के भावुक कवि और समाजसेवी रहे। आप संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और फारसी के अच्छे विद्वान् थे। आप अँग्रेजी के भी ज्ञाता थे। आप सं० १९८० में चतुर्दश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति के आसन को सुशोभित कर चुके हैं। आपकी अग्रलिखित कृतियाँ प्रसिद्ध हैं:—

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"
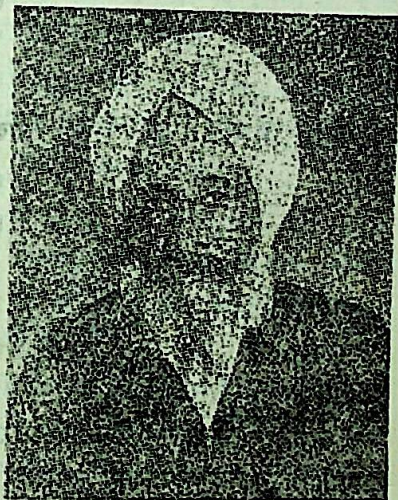
पद्य

खड़ी बोली (संस्कृत गर्भित भाषा) (१) प्रियप्रवास (२) पद्यप्रमो
(३) वैदेही बनवास (४) पारिजा

बोलचाल की भाषा (१) बोलचाल ।
(२) चुभते चौपदे ।
(३) चोखे चौपदे ।

ब्रजभाषा रसकलश (रीति ग्रन्थ)
फुटकर रचनाएँ ।

गद्य

(१) ठेठ हिन्दी का ठाठ ।
(२) अधखिला फूल ।
(३) वेनिस का बाँका !
अनूदित (अँग्रेजी से)
(४) हिन्दी भाषा और साहित्य
विकास ।

ब्रजभाषा से आपने रचनाएँ आरम्भ को थीं एवं 'रसकलश' लिख आपने अपने ब्रज-भाषा-ज्ञान तथा रीति ग्रन्थ प्रणयन-कौशल का परिचय दे दिया था । आपने देशसेविकादि नयी नायिकाओं की कल की है जो समयोचित कही जा सकती है । बोलचाल के आपके मुहावि यद्यपि मुहाविरों का प्रयोग करने की दृष्टि से लिखे गये हैं, तथापि अच्छे पड़े हैं । "ठेठ हिंन्दी का ठाठ" जैसी पुस्तकें ठेठ हिन्दी के सौन्दर्य दिग्दर्शन कराती हैं । आपकी यह पुस्तक सिविल सर्विस परीक्षा के कोर्स भी रही है । "प्रियप्रवास" आपकी प्रथम प्रौढ़ रचना है । संस्कृत वृत्तों में लिखा हुआ आपका यह अतुकान्त महाकाव्य हिन्दी में अनूठा कृष्ण-चरित्र के लोकरंजक रूप के साथ ही इन्होंने लोक-रक्षक रूप पर ध्यान रखा है । यही "प्रियप्रवास" की सबसे बड़ी विशेषता है । स

सेवा का 'हरिऔधजी' को सर्वदा ध्यान रहा है। इनके कृष्ण लीला-पुरुषोत्तम न रह कर तुलसी के राम के समान मर्यादा-पुरुषोत्तम कहे गये हैं। कृष्ण का नारायणत्व अनेक स्थलों पर ओझल हो गया है, परन्तु पुरुषोत्तमत्व कहीं लुप्त नहीं हुआ, अनेक पौराणिक कथाओं को इस प्रकार लिखा है मानो वे साधारण घटनाएँ हों। इस पुस्तक पर बुद्धिवाद का अधिक प्रभाव है। गिरि गोवर्धन पर्वत को अँगुली पर उठाने की वात को आलङ्कारिक रूप में माना है, वास्तविक रूप में नहीं।

इस पुस्तक में 'प्रियप्रवास' से दो उद्धरण दिये गये हैं। एक में विरहिणी राधा के भेजे हुए पवन-दूत का वर्णन है। इसमें कालिदास के मेघदूत की छाया है। दूसरे उद्धरण में यमुनाजी की शोभा वर्णन है।

उपाध्यायजी का प्रकृति-वर्णन भी अनूठा है। इसके कतिपय स्थलों में बिंबग्रहण का भाव है, न कि केवल चित्रग्रहण का। प्रकृति में आप चेतनता का भी आरोप करते हैं। कहीं-कहीं नाम गिनाने की प्रणाली का आश्रय लेने के कारण प्रकृति-वर्णन दूषित हो गया है।

उपाध्यायजी के 'प्रियप्रवास' की भाषा संस्कृतगर्भित है। संस्कृत छन्दों में संस्कृत शब्दों का आधिक्य स्वाभाविक हो जाता है। कहीं-कहीं बड़े-बड़े संस्कृत के से समास भी आ गये हैं, जैसे—विचित्र-लीलामय-वीचिसंकुला, 'तरंगमाला-कुलिता कालिंदिजा'। कहीं-कहीं संस्कृत के तत्सम शब्दों का आधिक्य हिन्दी भाषा की प्रकृति के परे सा लगता है, किन्तु यह दोष बहुत कम स्थानों पर आया है। उपाध्यायजी की भाषा परिमार्जित एवं प्रौढ़ है। आप यथार्थतः कवि-सम्राट कहे जाते थे।

———

पवनदूत—(प्रियप्रवास)

मंदाक्रान्ता छन्द ।

ज्यों ही मेरा भवन तज तू अल्प आगे बढ़ेगी।
शोभावाली सुखद कितनी मञ्जु कुञ्जें मिलेंगी॥
प्यारी छाया मृदुल स्वर से मोह लेंगी तुझे वे।
तो भी मेरा दुख लख वहाँ तू न विश्राम लेना॥
थोड़ा आगे सरस रव का धाम सत्पुष्पवाला।
लोने लोने बहुद्रुम लतावान सौन्दर्यशाली॥
प्यारा वृन्दाविपिन मन को मुग्धकारी मिलेगा।
आना जाना इस विपिन से मुह्यमाना न होगा॥
जाते जाते अगर पथ में क्लान्त कोई दिखावे।
तो तू जाके निकट उसकी क्रान्तियों को मिटाना।
धीरे-धीरे परस कर के गात उत्ताप खोना।
सद्गंधों से श्रमित जन को हर्षितों-सा बनाना॥
संलग्ना हो सुखद जल के श्रान्तिहारी कणों से।
ले के नाना कुसुम-कुल का गंध आमोदकारी॥
निर्धूली हो गमन करना उद्धता भी न होना।
आते जाते पथिक जिससे पंथ में शान्ति पावें॥
लज्जा-शीला-युवति पथ में जो कहीं दृष्टि आवे।
होने देना विकृत-वसना तो न तू सुन्दरी को॥
जो थोड़ी भी श्रमित वह हो गोद ले श्रांति खोना।
होठों की औ कमल-मुख की म्लाननायें मिटाना॥
जो पुष्पों के मधुर रस को साथ सानन्द बैठे।
पीते होवें भ्रमर-भ्रमरी सौम्यता तो दिखाना॥
थोड़ा-सा भी कुसुम हिले औ न उद्विग्न वे हों।
क्रीड़ा होवे न कलुषमयी केलि में हो न बाधा॥

कालिन्दी के पुलिन पर हो जो कहीं भी कढ़े तू।
छू के नीला सलिल उसका अङ्ग उत्ताप खोना॥
जी चाहे तो कुछ समय लों खेलना पंकजों से।
छोटी-छोटी सु-लहर उठा क्रीड़ितों को नचाना॥
प्यारे प्यारे तरु किसलयों को कभी जो हिलाना।
तो तू ऐसी मृदुल बनना टूटने वे न पावें॥
शाखा पत्रों सहित जब तू केलि में लग्न होना।
तो थोड़ा भी न दुख पहुँचे पक्षि के शावकों को॥
तेरी जैसी मृदु-पवन से सर्वथा शान्ति-कामी।
कोई रोगी पथिक पथ में जो पड़ा हो कहीं तो।
तो तू मेरे सकल दुख को भूल के धीर हो के।
खोना सारा कलुष उसका शान्ति सर्वाङ्ग होना॥
कोई क्लान्ता कृषक ललना खेत में जो दिखावे।
धीरे धीरे परस उसको क्लान्ति सर्वाङ्ग खोना॥
जाता कोई जलद यदि हो व्योम में तो उसे ला।
छाया द्वारा सुखित करना शीश तप्तांगना का॥
उद्यानों में सु-उपवन में वापिका में सरों में।
फूलों वाले नवल तरु में पत्रशोभी द्रुमों में॥
आते जाते न रम रहना औ न आसक्त होना।
कुंजों में औ, कमल-कुल में, वीथिका में, वनों में।
जाते जाते पहुँच मथुरा-धाम में उत्सुका हो।
न्यारी शोभा वर-नगर की देखना मुग्ध होना॥
तू होवेगी चकित लख के मेरु से मन्दिरों को।
आभा वाले कलश जिनके दूसरे अर्क से हैं॥
जी चाहे तो शिखर पर जा क्रीड़ना मन्दिरों के।
ऊँची-ऊँची अनुपम ध्वजा अङ्क में ले उड़ाना॥

प्रासादों में अटन करना घूमना प्रांगणों में।
इच्छा हो सकल सुर से सद्म को देख जाना॥
कुंजों बागों बिपिन यमुना-कूल या आलयों में।
सद्गन्धों से सनित सुख की बास संबंध से आ॥
कोई भौंरा विकल करता जो किसी बाल को हो।
तो सद्भावों सहित उसको ताड़ना दे भगाना॥
तू पावेगी कुसुम गहने कान्तता साथ पैन्हे।
उद्यानों में वर नगर के सुन्दरी मालिनों को॥
वे कार्यों में स्वप्रियतम के तुल्य ही लग्न होंगी।
जो श्रान्ता हों सरस गति से तो उन्हें मोह लेना॥
जो इच्छा हो सुरभि-सुखदा ले लताभूषणों से।
आते जाते स-रुचि उनके प्रीतमों को रिझाना॥
ऐ मर्मज्ञे रहित उससे सर्वथा किन्तु होना।
जैसे जाना निकट प्रिया के व्योम-चुम्बी गृहों के॥
तू पूजा के समय मथुरा-मन्दिरों मध्य-जाना।
नाना वाद्यों मधुर स्वर की मुग्धता को बढ़ाना॥
किंवा ले के कियत तरु के शब्दकारी फलों को।
धीरे धीरे रुचिर रव से मुग्ध हो हो बजाना॥
नीचे पुष्पों लसित तरु के जो खड़े भक्त होवें।
किंवा कोई उपल-गठिता-मूर्ति हो देवता की॥
तो डालों को परम मृदुला मंजुता से हिलाना।
औ, यों वर्षा-कुसुम करना शीश देवालयों के॥
तू पावेगी वर नगर में एक भूखंड न्यारा।
शोभा देते अमित जिसमें राज-प्रासाद होंगे॥
उद्यानों में परम-सुषमा है जहाँ संचिता सी।
छीने लेते सरवर जहाँ वस्त्र की स्वच्छता हैं॥

तू देखेगी जलद-तन को जा वहीं तद्गता हो।
होंगे लोने नयन उनके ज्योति-उत्कीर्णकारी॥
मुद्रा होगी वर-वदन की मूर्ति सी सौम्यता की।
सीधे साधे वचन उनके सिक्त पीयूष होंगे॥
नीले कंजों सदृश उनके गात की श्यामता है।
पीला-प्यारा वसन कटि में पैन्हते हैं फबीला॥
छूटी काली अलक मुख की कान्ति को है बढ़ाती।
सद्वस्त्रों में नवल-तन की फूटती सी प्रभा है॥
साँचे ढाला सकल वपु है दिव्य सौन्दर्यवाला।
सत्पुष्पों सी सुरभि उसकी प्राण-संपोषिका है॥
दोनों कन्धे वृषभ-वर से हैं बड़े सजीले।
लम्बी बाहें कलभ-कर सी शक्ति की पेटिका हैं॥
राजाओं सा मुकुट उनके राजता शीश होगा।
कानों होगी सुललित-छटा स्वर्ण के कुण्डलों की॥
नाना रत्नों वलित भुज में मंजु केयूर होंगे।
मोतीमाला कलित लसती कम्बु से कंठ होगी॥
प्यारे ऐसे अपर जन भी जो वहाँ दृष्टि आवें।
देवों के से प्रथित-गुण से तो उन्हें चीन्ह लेना॥
वे हैं थोड़े यद्पि वय में तेजशाली बड़े हैं।
तारों में है न छिप सकता कंत राका निशा का॥
बैठे होंगे जिस थल वहाँ भव्यता भूरि होगी।
सारे प्राणी बदन लखते प्यार के साथ होंगे॥
पाते होंगे परम-निधि औ लूटते रत्न होंगे।
होती होंगी हृदयतल की क्यारियाँ पुष्पिता सी॥
बैठे होंगे निकट जितने शान्त औ शिष्ट होंगे।
मर्य्यादा का सकल जन को ध्यान होगा बड़ा ही।

कोई होगा न कह सकता बात दुर्वृत्तता की।
पूरा पूरा हृदय सब श्याम-आतंक होगा॥
प्यारे प्यारे वचन उन से बोलते श्याम होंगे।
फैली जाती हृदय उनके हर्ष की बेलि होगी॥
देते होंगे महत गुण वे देख के नैन कोरों।
लोहा को छू कलित कर से स्वर्ण होंगे बनाते॥
सीधे जाके प्रथम गृह के मंजु उद्यान में तू।
जो थोड़ी भी तपन तन की सिक्त होके मिटाना॥

निर्धूली हो सरस रज से पुष्प के लिप्त होना।
पीछे जाना प्रिय सदन स्निग्धता से बड़ी ही॥
जो प्यारे के निकट बजती बीन या बंशिका हो।
किंवा कोई मुरज पनवों आदि को हो बजाता॥
या गाती हो मधुर स्वर से मंडली गायकों की।
होने पावे न स्वर-लहरी अल्प भी तो विपन्ना॥
जाते ही छू कमल-दल से पाँव को पूत होना।
काली काली अलक मृदुता से कपोलों हिलाना॥

क्रीड़ायें भी कलित करना ले दुकूलादिकों को।
धीरे धीरे परस तन को प्यार की बेलि बोना॥
तेरे में है न यह गुण जो तू व्यथायें सुनाये।
तू कामों को प्रखर मति औ युक्तियों से चलाना॥
बैठे जो हों सदन अपने मेघसी कान्ति वाले।
तो चित्रों को इस भवन के ध्यान से देख जाना॥
जो चित्रों में विरह-बिधुरा-बाल का चित्र होवे।
तो तू जाके निकट उस को भाव से यों हिलाना॥
प्यारे होके चकित जिससे चित्र की ओर देखें।
आशा है यों सुरति उनको हो सकेगी हमारी॥

जो कोई भी सदन में चित्र उद्यान का हो।
और प्राणी हों विपुल उसमें घूमते बावले से॥
तो तू जाके निकट उसके औ हिला के उसे भी।
कंसारी को सुरति ब्रज के व्याकुलों की कराना॥
कोई प्यारा-कुसुम कुम्हला भौन में जो पड़ा हो।
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसे तू॥
यों देना ऐ पवन! बतला फूल सी एक बाला।
म्लाना हो हो कमल-पग को चूमना चाहती है॥

जो प्यारे मंजु उपवन या वाटिका में खड़े हों।
छिद्रों में जा क्वणित करना वेणु लौं कीचकों को॥
यों होवेगी सुरति उनको सर्व गोपांगना की।
जो बंशी के श्रवण हित के दीर्घ उत्कण्ठ होती॥
ला के फूले कमलदल को श्याम के सामने हो।
थोड़ा थोड़ा विपुल जल में व्यग्र हो हो डुबाना॥
यों देना तू भगिनि जतला एक अंभोजनेत्रा।
आँखों को हो विरह-विधुरा बारि में बोरती है॥

धीरे लाना वहन कर के नीप का पुष्प कोई।
औ प्यारे के चपल दृग के सामने डाल देना॥
यों देना तू प्रकट दिखला नित्य आशंकिता हो।
कैसी होती विरह वश मैं नित्य रोमांचिता हूँ॥
बैठे नीचे जिस विटप के श्याम हों तू उसी का।
कोई पत्ता निकट उनके नेत्र के ले हिलाना॥
यों प्यारे को विदित करना चातुरी से दिखाना।
मेरे चिन्ता-विजित चित का क्लान्त हो काँप जाना॥

सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा में पड़ी हो।
तो तू पावों निकट उसको श्याम के ला गिराना॥

यों सीधे तू प्रगट करना प्रीति से वंचिता हो।
मेरा होना अति मलिन और सूखते नित्य जाना॥
कोई पत्ता नवल तरु का पीत जो हो रहा हो।
तो प्यारे के दृग युगल के सामने ला उसे तू॥
धीरे-धीरे सँभल रखना औ उन्हें यों बताना।
पीला होना प्रबल दुख से प्रोषिता लौं हमारा॥
यों प्यारे को विदित कर के सर्व मेरी व्यथायें।
धीरे-धीरे वहन करके पाँव की धूलि लाना॥

थोड़ी सी भी चरणरज जो ला न देगी हमें तू।
हा! कैसे तो व्यथित चित्त को बोध मैं दे सकूँगी॥
जो ला देगी चरणरज तो तू बड़ा पुण्य लेगी।
पूता हूँगी परम उसको अंग में मैं लगा के॥
पोतूँगी तो हृदयतल में वेदना दूर होगी।
डालूँगी मैं शिर पर उसे आँख में ले मलूँगी॥
तू प्यारे का मृदुल स्वर ला मिष्ट जो है बड़ा ही।
जो यों भी है क्षरण करता स्वर्ग की सी सुधा को॥

थोड़ा भी ला श्रवण पुट में जो उसे डाल देगी।
मेरा सूखा हृदयतल तो पूर्ण उत्फुल्ल होगा॥
भीनी-भीनी सुरभि सरसे पुष्प की पोषिका सी।
मूलीभूता अवनितल में कीर्ति कस्तूरिका की॥
तू प्यारे के नवल तन की वास ला दे निराली।
मेरे ऊबे व्यथित चित में शान्ति धारा बहा दे॥
होते होवें पतित कण जो अङ्गरागादिकों के।
धीरे-धीरे वहन कर के तू उन्हीं को उड़ा ला॥

कोई मालाकुसुम प्रिय के कण्ठ संलग्न जो हो।
तो यत्नों से विकच उसका पुष्प ही एक ला दे॥

पूरी होवें न यदि तुझ से अन्य बातें हमारी।
तो तू मेरी विनय इतनी मान ले औ चली जा॥
छू के प्यारे कमलपग को प्यार के साथ आजा।
जी जाऊँगी हृदयतल में मैं तुझी को लगा के॥
भ्रान्ता हो के परमदुख और भूरि उद्विग्नता से।
ले के प्रातः मृदुपवन को या सखी आदिकों को॥
यों ही राधा प्रगट करती नित्य थी वेदनायें।
नाना चिन्ता हृदयतल में वर्द्धमाना महा थी॥

द्रुतविलंबित छन्द।

सरसतालय सुन्दरता सने,
मुकुर मंजुल से तरु-पुंज के
विपिन में सर थे बहु सोहते,
सलिल से लसते मन मोहते॥
लस रही लहरें रसमूल थीं,
सब सरोवर के कल अङ्क में।
प्रकृति के कर थे लिखते मनों,
कल कथा कमनीय ललामता॥
द्युतिमती दिननायक दीप्ति से,
स-द्युति वारि सरोवर का बना।
अति अनूपम कान्ति-निकेत था,
कुलिश सा कल-उज्ज्वल काँच-सा।
परम-स्निग्ध मनोरम पत्र में,
सु-विकसे जलजात-समूह से।
सर समस्त अलंकृत थे हुए,
लसित थीं दल पै कमलासना॥

विकच वारिज पुंज विलोक के,
उपजती उर में यह कल्पना।
बहु प्रफुल्लित लोचन-चारु से,
वन छटा लखते सर-वृन्द हैं॥

जमुना की शोभा

वंशस्थ छन्द।

मुकूल वाली कलि-कालिमा महा,
विचित्र-लीला मयि बीचि-संकुला।
विराजमाना वन एक ओर थी,
कलामयी केलिवती कलिन्दजा॥
असेत-धारा सरिता-सकान्ति में,
सु-सेतता हो मिलती प्रदीप्ति की।
दिखा रही थी द्युति नील-कान्त में,
समन्विता हीरक ज्योति पुञ्ज सी॥
विलोकनीया नभ-नीलिमा समा,
नवाम्बुदों की कल-कालिमोपमा।
नवीन तीसी कुसुमोपमेय था,
कालिन्दजा की कमनीय श्यामता॥
जवास किंवा विष कालिनाग से,
प्रभाव के भूधर के न भूमि के।
नितान्त ही केशव-ध्यान मग्न हो,
पतंगजा थी असितांगिनी बनी॥
स-बुदबुदा फेन युता सु शब्दिता,
अनन्त आवर्त्तमयी प्रफुल्लिता।
अनूपता-अन्वित थी प्रवाहिता,
तरंग मालाकुलिता कलिन्दजा॥

प्रसूनवाले, फल-भार से नये,
अनेक थे पादप कूल सोहते।
स्वच्छाययया वे करते प्रगाढ़ थे,
दिनेशजा-अङ्क-प्रसूत-श्यामता ॥
कभी खिले फूल गिरा प्रवाह में,
कलिन्दजा को करता स-पुष्प था।
गिरे फलों से फल शाभिनी उसे,
कभी बनाता तरु का समूह था ॥
विलोक ऐसी तरु-वृन्द की क्रिया,
विचार होता यह था स्वभावतः।
कृतज्ञता से नत हो स-प्रेम वे,
पतंगजा-पूजन में प्रवृत्त हैं ॥
प्रवाह होता जब वीचि हीन था,
रहा दिखाता वन-अन्य अङ्क में।
परन्तु होते सरिता तरङ्गिता,
स वृक्ष होता वन था सहस्रधा ॥
न कालिमा है मिटती कपाल की,
न बाप को है पड़ती कुमारिका।
प्रतीत होती महती विलोक के,
तमोमयी सी तनया तमारि की ॥

मालिनी छन्द।

कलित किरण माला, बिम्ब सौन्दर्यशाली,
सु-गगन तल शोभी दिव्य छायापती का।
छविमय करती थीं दर्शकों के दृगों को,
जब रवितनया ले अङ्क में क्रीड़ती थी ॥

———

बाबू मैथिलीशरण गुप्त

कवि परिचय—

झाँसी जिले के चिरगाँव नामक गाँव को सं० १९४३ में जन्म लेकर बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने चिरकाल के लिये स्मरणीय बना दिया। आप गहोई वैश्यकुल भूषण हैं। आपके पिता लाला रामशरण गुप्त भी कवि थे। आप प्रारम्भ में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी से बहुत प्रभावित हुए, एवं उन्हें अपना गुरु भी मानते हैं। आपने एक प्रेस भी आजकल चिरगाँव में खोल रखा है। आपकी "भारत भारती" नामक रचना सामयिक उत्साह से पूरित होने के कारण बहुत शीघ्र भारतीय युवकों का कंठहार हो गई थी। आप

बाबू मैथिलीशरण गुप्त

बड़े सरल स्वभाव के हैं। ढोंग आपको बिलकुल पसन्द नहीं है। आप रामोपासक वैष्णव हैं, किन्तु आप में धार्मिक कट्टरता छू तक नहीं गई है। आपने जैसे 'साकेत' में रामचरित का वर्णन किया है, वैसे ही 'द्वापर' में कृष्णचरित्र का गान किया है। 'अनघ' और 'यशोधरा' में भगवान बुद्ध के चरित्र का वर्णन है। 'काबा' और 'कर्बला' में हसन और हुसैन के बलिदान की कथा है। आपकी व्यापक राष्ट्रीयता ने सब धर्मों को अपनी कविता का विषय बनाने के लिये प्रेरित किया है। किन्तु

भक्ति अनन्य रूप के केवल राम की ही है। आपका कविता क्षेत्र में बहुत ऊँचा स्थान है।

आपकी मुख्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) भारत-भारती	(५) झङ्कार	(९) साकेत
(२) जयद्रथ-वध	(६) मेघनाथ-वध	(१०) द्वापर
(३) हिन्दू	(७) विरहिणी व्रजाङ्गना	
(४) गुरुकुल	(८) यशोधरा	

पंचवटी, शक्ति, रंग में भंग, पत्रा वली, वैतालिक, तिलोत्तमा, शकुन्तला, स्वदेश-संगीत, चन्द्रहास, काबा-कर्बला आदि अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ भी आपने लिखी हैं। इनमें मेघनाथ-वध और विरहिणी व्रजाङ्गना अनूदित हैं। बंगाल के कवि माइकेल मधुसूदनदत्त इन ग्रन्थों के मूल लेखक हैं। आपने श्री नवीनचन्द्र सेन के 'प्लासी युद्ध' का भी अनुवाद किया है। आप अनुवाद करते समय अपना नाम 'मधुप' रखते हैं।

गुप्तजी की कविताओं में मार्मिकता का प्रारम्भ जयद्रथ वध की रचना से होता है। "साकेत", "यशोधरा" में आपकी प्रतिभा का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है।

'साकेत' की रचना उपेक्षिता उर्मिला को उचित महत्त्व देने की दृष्टि से हुई है। रामायण के कथानक में उर्मिला की उपेक्षा कदाचित इसी कारण होती आई है कि पाठकों का ध्यान उधर जाने पर अशोक वाटिका की सीता के कष्टों का उतना महत्त्व न समझा जा सके। गुप्तजी भी इस बात को जानते हैं, अतः 'साकेत' में आपने उर्मिला को उचित महत्त्व देते हुए अवध के आसपास का चित्रण किया है। इसीलिये पुस्तक का नाम 'साकेत' रखा गया है। इसकी सब घटनाएँ साकेत में ही घटी हैं। सहृदय गुप्तजी श्री रामचन्द्र के अनन्य भक्त होते हुए भी राम के साथ वन नहीं जाते, किन्तु साकेतवासियों के साथ ही रोते-कलपते रहते हैं, फिर भी कौशल से कथा का क्रम अक्षुण्ण बनाये रखते हैं।

विवाह के पूर्व की घटनाओं का वर्णन स्मृति रूप से उर्मिला के मुख से करा दिया गया है। वन की घटनाओं में कुछ का वर्णन हनुमान जी के मुख से करा दिया गया है और कुछ बातों को वशिष्ठजी द्वारा दी हुई दिव्य-दृष्टि से साकेतवासियों को दिखा दिया गया है। चित्रकूट में सारा साकेत पहुँच गया था, इसलिये कथा का सूत्र साकेत में ही केन्द्रित रहा।

इस संकलन में 'साकेत' के दो स्थलों से उद्धरण दिये गये हैं। पहला भरत मिलाप। इसमें साकेत समाज के साथ चित्रकूट में गये हुए भरतजी और उनकी माता कैकेयी की श्री रामचन्द्रजी से बातचीत होती है। इस वार्तालाप में गुप्तजी ने कैकेयी द्वारा पश्चाताप की भावना दिखा कर उस के चरित्र को बहुत ऊँचा उठा दिया है।

दूसरा प्रसंग है लक्ष्मणजी के शक्ति लग जाने की खबर हनुमानजी के मुख से सुनकर शत्रुघ्नजी द्वारा रामचन्द्रजी की सहायता के लिये फौज तैयार कराने का। यह गुप्तजी की मौलिक उद्भावना है। शक्ति लग जाने की खबर पाकर अयोध्यावासियों का कुछ न करना रामचन्द्रजी के प्रति उदासीनता प्रकट करता है। अन्त में इस फौज की आवश्यकता नहीं पड़ी। वशिष्ठजी ने साकेतवासियों को दिव्य-दृष्टि देकर राम-रावण युद्ध का सुखमय परिणाम दिखा दिया था। गुप्तजी का यह वर्णन बड़ा ही सजीव और गतिमय है।

अष्टम सर्ग में विरह-वर्णन है। कवि इसमें रीतिकाल से कुछ प्रभावित अवश्य हुआ है, लाक्षणिकता तो है ही, साथ ही कहीं-कहीं अतिरञ्जित पद्धति का भी इसमें आश्रय लिया गया है। गुप्तजी ने संस्कृत छन्दों के स्थानों में हिन्दी के छन्दों का भी प्रयोग किया है। आपने संस्कृत के तत्सम शब्दों का व्यवहार किया है, किन्तु भरमार नहीं की है और न उपाध्याय जी की तरह बड़े-बड़े समास प्रयोग किये हैं। आपकी भाषा व्याकरण-सम्मत शुद्ध खड़ी बोली है। आपका वाक्य-विन्यास, पदलालित्य और अलंकारों का चमत्कार दर्शनीय है।

साकेत—भरत-मिलाप

तदनन्तर बैठी सभा उटज के आगे।
नीले वितान के तले दीप बहु जागे॥
टकटकी लगाये नयन सुरों के थे वे।
परिणामोत्सुक उन भयातुरों के थे व॥

उत्फुल्ल करौंदी-कुञ्ज-वायु रह रह कर।
करती थी सबको पुलक-पूर्ण मह मह कर॥
वह चन्द्रलोक था, कहाँ चाँदनी वैसी।
प्रभु बोले गिरा गँभीर नीर निधि जैसी॥

"हे भरत भद्र, अब कहो अभीप्सित अपना"।
सब सजग हो गये, भंग हुआ ज्यों सपना॥
"हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी?
मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब, तब भी?

पाया तुमने तरु तले अरण्य बसेरा।
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा?
तनु तड़प-तड़प कर तप्त तात ने त्यागा।
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा?

हा! इसी अयश के हेतु जनन था मेरा।
निज जननी ही के हाथ हनन था मेरा॥
अब कौन अभीप्सित और आर्य वह जिसका?
संसार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका॥

मुझसे मैंने ही आज स्वयं मुँह फेरा।
हे आर्य, बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा"?
प्रभु ने भाई को पकड़ हृदय पर खींचा।
रोदन जल ने सविनोद उन्हें फिर सींचा॥

"उसके आशय की थाह मिलेगी किसको।
जन कर जननी ही जान न पाई जिसको"?
"यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को"।
चौंके सब सुन कर अटल कैकेयी-स्वर को॥
सबने रानी की ओर अचानक देखा।
वैधव्य-तुषारावृता यथा विधु-लेखा॥
बैठी थी अचल तथापि असंख्य तरंगा।
वह सिंही तब थी हहा! गोमुखी गङ्गा—
"हाँ, जन कर भी मैंने न भरत को जाना।
सब सुन लें तुमने स्वयं अभी यह माना॥
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया।
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया॥
दुर्बलता का ही चिन्ह विशेष शपथ है।
पर अबलाजन के लिए कौन सा पथ है?
यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ।
तो पति-समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ॥
ठहरो, मत रोको मुझे, कहूँ सो सुन लो।
पाओ यदि उसमें सार उसे सब चुन लो॥
करके पहाड़-सा पाप मौन रह जाऊँ?
राई भर भी अनुताप, न करने पाऊँ"?
थी सनक्षत्र शशि-निसा ओस टपकाती।
रोती थी नीरव सभा हृदय थपकाती॥
उल्का-सी रानी दिशा दीप्त करती थी।
सब में भय-विस्मय और खेद भरती थी॥
"क्या कर सकती थी, मरी मन्थरा दासी।
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी॥

जल पंजर-गत अब अरे अधीर अभागे।
वे ज्वलित भाग थे स्वयं तुझी में जागे॥
पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन में ?
क्या शेष बचा था कुछ न और इस तन में ?
कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र, क्या तेरा ?
पर आज अन्य-सा हुआ वत्स भी मेरा॥
थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके।
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके ?
छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझ से।
हे राम ! दुहाई करूँ और क्या तुझ से ?"
कहते आते थे यही अभी नर-देही।
'माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही'॥
अब कहें सभी यह हाय ! विरुद्ध विधाता—
'है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता'॥
बस मैंने इसका बाह्य मात्र ही देखा।
दृढ़ हृदय न देखा, मृदुल गात्र ही देखा॥
परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा।
इस कारण ही तो हाय आज यह बाधा॥
युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी'॥
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा।
'धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा'॥
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई"॥
पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई।
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई"॥

"हा ! लाल ! उसे भी आज गमाया मैंने।
विकराल कुयश ही यहाँ कमाया मैंने॥
निज स्वर्ग उसी पर वार दिया था मैंने।
हर तुम तक से अधिकार लिया था मैंने॥
पर वही आज यह दीन हुआ रोता है।
शङ्कित सब से धृत हरिण तुल्य होता है॥
श्रीखण्ड आज अंगार-चण्ड है मेरा।
फिर इससे बढ़ कर कौन दण्ड है मेरा॥

पटके मैंने पद-पाणि मोह के नद में।
जन क्या कर सकते नहीं स्वप्न में मद में ?
हा ! दण्ड कौन, क्या उसे डरूँगी अब भी ?
मेरा विचार कुछ दयापूर्ण हो तब भी॥
हा दया ! हन्त वह घृणा-सहह वह करुणा ?
वैतरणी-सी है आज जाह्नवी-वरुणा !
सह सकती हूँ चिर-नरक, सुनें सुविचारी।
पर मुझे स्वर्ग की दया दण्ड से भारी।

लेकर अपना यह कुलिश-कठोर कलेजा।
मैंने इसके ही लिए तुम्हें वन भेजा॥
घर चलो इसी के लिए, न रूठो अब यों।
कुछ और कहूँ तो उसे सुनेंगे सब क्यों ?
मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे।
मेरे दुगने प्रिय रहो न मुझ से न्यारे॥
मैं इसे न जानूँ, किन्तु जानते हो तुम।
अपने से पहले इसे मानते हो तुम॥

तुम भ्राताओं का प्रेम परस्पर जैसा।
यदि वह सब पर यों प्रकट हुआ है वैसा॥

तो पाप दोष भी पुण्य-तोष है मेरा।
मैं रहूँ पंकिला, पद्म-कोष है मेरा॥
आगत ज्ञानी जन उच्च भाल ले लेकर।
समझावें तुम को अतुल युक्तियाँ देकर॥
मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा।
उसने फिर तुमको आज भुजा भर भेंटा॥
देवों की ही चिरकाल नहीं चलती है।
दैत्यों की भी दुर्वृत्ति यहाँ फलती है"॥
हँस पड़े देव कैकेयी कथन यह सुनकर।
रो दिये क्षुब्ध दुर्दैव दैत्य सिर धुन कर॥
'छल किया भाग्य ने मुझे अयश देने का।
बल दिया उसी ने भूल मान लेने का॥
अब कटे सभी वे पाप नाश के प्रेरे।
मैं वही कैकेयी, वही राम तुम मेरे॥
होने पर बहुधा अर्ध रात्रि अंधेरी।
जीजी आकर करतीं पुकार थीं मेरी॥
'लो कुहुकिनि, अपना कुहक, राम यह जागा।
निज मँझली माँ का स्वप्न देख उठ भागा'॥
भ्रम हुआ भरत पर मुझे व्यर्थ संशय का।
प्रतिहिंसा ने ले लिया स्थान तब भय का॥
तुम पर भी ऐसी भ्रान्ति भरत से पाती।
तो उसे मनाने भी न यहाँ मैं आती॥
जीजी ही आतीं, किन्तु कौन मानेगा।
जो अन्तर्यामी, वही, इसे जानेगा॥
'हे अम्ब तुम्हारा राम जानता है सब।
इस कारण वह कुछ खेद मानता है कब?'

"क्या स्वाभिमान रखती न कैकेयी रानी ?
बतलादे कोई मुझे उच्चकुल-मानी ॥
सहती कोई अपमान तुम्हारी अम्बा ?
पर हाय ! आज यह हुई निपट नालम्बा ॥
मैं सहज मानिनी रही सरल क्षत्राणी ।
इस कारण सीखी नहीं दैन्य यह वाणी ॥
पर महादीन हो गया आज मन मेरा ।
भावज्ञ, सहेजो तुम्हीं भाव धन मेरा ॥
समुचित ही मुझको विश्व-घृणा ने घेरा ।
समझाता कौन सशान्ति मुझे भ्रम मेरा ?
यों ही तुम वन को गये, देव सुरपुर को ।
मैं बैठी ही रह गई लिये इस उर को ॥
बुझ गई पिता की चिता भरत-भुजधारी ।
पितृभूमि आज भी तप्त तथापि तुम्हारी ॥
भय और शोक सब दूर उड़ाओ उसका ।
चलकर सुचरित, फिर हृदय जुड़ाओ उसका ॥
हो तुम्हीं भरत के राज्य, स्वराज्य सम्हालो ।
मैं पाल सकी न स्वधर्म, उसे तुम पालो ॥
स्वामी को जीते जी न दे सकी सुख मैं ।
मर कर तो उनको दिखा सकूँ यह मुख मैं ॥
मर मिटना भी है एक हमारी क्रीड़ा ।
पर भरत-वाक्य है सहूँ विश्व की व्रीड़ा ॥
जीवन नाटक का अन्त कठिन है मेरा ।
प्रस्ताव मात्र में यहाँ अधैर्य अँधेरा ॥
अनुशासन ही था मुझे अभी तक आता ।
करती है तुमसे विनय आज यह माता ॥"

"हा माता, मुझको करो न यों अपराधी।
मैं सुन न सकूँगा बात और अब आधी॥
कहती हो तुम क्यों अन्य-तुल्य यह बानी।
क्या राम तुम्हारा पुत्र नहीं वह मानी?
इस भाँति मनाकर हाय, मुझे न रुठाओ।
जो उठूँ न मैं, क्यों तुम्हीं न आप उठाओ॥
वे शैशव के दिन आज हमारे बीते।
माँ के शिशु क्यों शिशु ही न रहे मनचीते?

तुम रीझ-खीझ कर कोप जनातीं मुझको।
हँस आप रुठातीं, आप मनातीं मुझको॥
वे दिन बीते, तुम जीर्ण दुःख की मारी।
मैं बड़ा हुआ अब और साथ ही भारी॥
अब उठा सकोगी तुम न तीन मैं कोई"।
"तुम हलके कब थे?" हँसी कैकेयी, रोई॥
"माँ अब भी तुमसे राम विनय चाहेगा?
अपने ऊपर॰ क्या आप अद्रि ढाहेगा?

अब तो आज्ञा की अम्ब, तुम्हारी बारी।
प्रस्तुत हूँ मैं भी धर्मधनुर्धृतिधारी॥
जननी ने मुझको जना, तुम्हीं ने पाला।
अपने साँचे में आप यत्न से ढाला॥
सबके ऊपर आदेश तुम्हारा मैया।
मैं अनुचर पूत, सपूत, प्यार का भैया॥
बनवास लिया है मान तुम्हारा शासन।
लूँगा न प्रजा का भार, राज-सिंहासन?
पर यह पहला आदेश प्रथम हो पूरा।
वह तात-सत्य भी रहे न अम्ब, अधूरा॥

जिस पर हैं अपने प्राण उन्होंने त्यागे।
मैं भी अपना व्रत-नियम निबाहूँ आगे॥
निष्फल न गया माँ, यहाँ भरत का आना।
सिरमाथे मैंने बचन तुम्हारा माना॥
सन्तुष्ट मुझे तुम देख रही हो वन में।
सुख धन-धरती में नहीं, किन्तु निज मन में॥
यदि पूरा प्रत्यय न हो तुम्हें इस जन पर।
तो चढ़ सकते हैं राजदूत तो घन पर"॥

"राघव, तेरे ही योग्य कथन है तेरा।
दृढ़ बाल-हठी तू वही राम है मेरा॥
देखें हम तेरा अवधि मार्ग सब सहकर"।
कौसल्या चुप हो गई आप यह कहकर॥
ले एक साँस रह गई सुमित्रा भोली।
कैकेयी ही फिर रामचन्द्र से बोली॥
"पर मुझको तो परितोष नहीं है इससे।
हा! तब तक मैं क्या कहूँ सुनूँगी किससे"॥
"जीती है अब भी अम्ब, उर्मिला बेटी।
इन चरणों की चिरकाल रहूँ मैं चेटी"॥
"रानी, तूने तो रुला दिया पहले ही।
यह कह काँटों पर सुला दिया पहले ही॥
आ मेरी सबसे अधिक दुःखिनी आजा।
पिस मुझसे चन्दन लता मुझी पर छाजा।
हे वत्स, तुम्हें बनवास दिया मैंने ही।
अब उसका प्रत्याहार किया मैंने ही"॥
"पर रघुकुल में जो वचन दिया जाता है।
लौटा कर वह कब कहाँ लिया जाता है॥

क्यों व्यर्थ तुम्हारे प्राण खिन्न होते हैं।
वे प्रेम और कर्त्तव्य भिन्न होते हैं॥
जाने दो निर्णय करें भरत ही सारा।
मेरा अथवा है, कथन यथार्थ तुम्हारा॥
मेरी इनकी चिर पंच रहीं तुम माता।
हम दोनों के मध्यस्थ आज ये भ्राता"॥
"हा आर्य! भरत के लिए और था इतना"?
"बस भाई, लो माँ, कहें और ये कितना"?

"कहने को तो है बहुत दुःख से सुख से।
पर आर्य! कहूँ तो कहूँ आज किस मुख से॥
तब भी है तुमसे विनय, लौट घर जाओ"?
"इस 'जाओ' का क्या अर्थ मुझे बतलाओ"॥
"प्रभु, पूर्ण करूँगा यहाँ तुम्हारा व्रत मैं"?
"पर क्या अयोग्य, असमर्थ और अनिरत मैं"?
"यह सुनना भी है पाप, भिन्न हूँ क्या मैं"?
"इस शंका से भी नहीं खिन्न हूँ क्या मैं?

हम एकात्मा हैं; तदपि भिन्न है काया"।
"तो इस काया पर नहीं मुझे कुछ माया॥
सड़ जाय पड़ी यह इसी उटज के आगे।
मिल जायँ तुम्हीं में प्राण आर्त्त अनुरागे"
"पर मुझे प्रयोजन अभी, अनुज इस तन का"।
"तो भार उतारो तात, तनिक इस जन का॥
तुम निज विनोद में व्यथा छिपा सकते हो।
करके इतना आयास नहीं थकते हो॥
पर मैं कैसे, किस लिए, सहूँ यह इतना"?
"मुझ जैसे मेरे लिए तुम्हें यह कितना"॥

शिष्टागम निष्फल नहीं कहीं होता है।
वन में भी नागर-भाव-बीज बोता है॥
कुछ देख रही है दूर दृष्टि-मति मेरी।
क्या तुम्हें इष्ट है वीर, विफल-गति मेरी ?
तुमने मेरा आदेश सदा से माना।
हे तात ! कहो क्यों आज व्यर्थ हठ ठाना ?
करने में निज कर्त्तव्य कुयश भी यश है"।
"हे आर्य, तुम्हारा भरत अतीव अवश है॥

क्या कहूँ और क्या करूँ कि मैं पथ पाऊँ ?
क्षण भर ठहरो, मैं ठगा न सहसा जाऊँ॥
सन्नाटा छा गया सभा में क्षण भर।
हिल सका न मानो स्वयं काल भी कण भर॥
जावालि जरठ को हुआ मौन दुःसह-सा।
बोले वे स्वजटिल शीर्ष डुला कर सहसा॥
"ओहो ! मुझको कुछ नहीं समझ पड़ता है।
देने को उल्टा राज्य द्वन्द लड़ता है॥

पितृ-वध तक उसके लिए लोग करते हैं"।
"हे मुने, राज्य पर वही मर्त्य मरते हैं"॥
"हे राम, त्याग की वस्तु नहीं वह ऐसी"।
"पर मुने, भोग की भी न समझिए वैसी"॥
"हे तरुण, तुम्हें संकोच और भय किसका"।
"हे जरठ, नहीं इस समय आपको जिसका"॥
"पशु-पक्षी तक हे वीर, स्वार्थ लक्षी हैं"।
"हे धीर किन्तु मैं पशु न आप पक्षी हैं"॥
"मत की स्वतन्त्रता विशेषता आर्यों की।
निज मत के ही अनुसार क्रिया कार्यों की॥

"हे वत्स, विफल परलोक-दृष्टि निज रोको"।
"पर यही लोक है तात, आप अवलोको"॥
"यह भी विनश्य है, इसी लिए हूँ कहता"।
"क्या ? हम रहते, या राज्य हमारा रहता" ?
"मैं कहता हूँ सब भस्म शेष जब लोगो।
तब दुःख छोड़कर क्यों न सौख्य ही भोगो"॥
"पर सौख्य कहाँ है, मुने आप बतलावें"।
"जन साधारण ही जहाँ मानते आवें"॥

"पर साधारण जन आप न हमको जानें।
जन साधारण के लिए भले ही मानें"॥
"यह भावुकता है", "हमें इसी में सुख है।
फिर पर-सुख में क्यों चारु-वाक्य,यह दुख है"?
तब वामदेव ने कहा—"धन्य भावुकता।
कर सकता उसका मूल्य कौन है चुकता ?
भावुक जन से ही महत्कार्य होते हैं।
ज्ञानी संसार असार मान रोते हैं"॥

"किन से विवाद हे आर्य, आप करते हैं" ?
बोले लक्ष्मण—"ये सौख्य खोज मरते हैं॥
सुख मिले जहाँ पर जिन्हें, स्वाद वे चक्खें।
पर औरों का भी ध्यान कृपा कर रक्खें॥
शासन सब पर है, इसे न कोई भूले।
शासक पर भी, वह भी न फूल कर ऊले॥
हँस कर जाबालि वशिष्ठ ओर तब हेरे।
मुसकाकर गुरु ने कहा—शिष्य हैं मेरे॥
मन चाहे जैसे और परीक्षा लीजे।
आवश्यक हो तो स्वयं स्वदीक्षा दीजे"॥

प्रभु बोले—"शिक्षा वस्तु सदैव अधूरी।
हे भरतभद्र, हो बात तुम्हारी पूरी"॥
"हे देव, विफल हो बार बार भी मन की।
आशा अटकी है अभी यहाँ इस जन की॥
जब तक पितु आज्ञा आर्य यहाँ पर पालें।
तब तक आर्या ही चलें,—स्वराज्य संभालें"॥
"भाई, अच्छा प्रस्ताव और क्या इससे?
हमको तुमको सन्तोष सभी को जिससे"॥
"पर मुझको भी हो तब न?" मैथिली बोलीं।
कुछ हुई कुटिल सी सरल दृष्टियाँ भोलीं॥
"कह चुके अभी मुनि, 'सभी स्वार्थ ही देखें'।
अपने मत में वे यहाँ मुझी को लेखें!"॥
"भाभी, तुम पर है मुझे भरोसा दूना।
तुम पूर्ण करो निज भरत-मातृ-पद ऊना॥
जो कौशलेश्वरी हाय! वेष ये उनके?।
मण्डन हैं अथवा चिन्ह शेष ये उनके?"॥
"देवर, न रुलाओ आह, मुझे रोकर यों।
कातर होते हो तात, पुरुष होकर यों?
स्वयमेव राज्य का मूल्य जानते हो तुम।
क्यों उसी धूल में मुझे सानते हो तुम?
मेरा मण्डन-सिन्दूर बिन्दु यह देखो।
सौ-सौ रत्नों से इसे अधिक तुम लेखो॥
शत चन्द्रहार उस एक अरुण के आगे।
कब स्वयं प्रकृति ने नहीं स्वयं ही त्यागे?
इस निज सुहाग की सुप्रभात बेला में।
जाग्रत जीवन की खण्डमयी खेला में॥

मैं अम्बा-सम आशीष तुम्हें दूँ, आओ।
निज अग्रज से भी शुभ्र सुयश तुम पाओ" ॥
"मैं अनुगृहीत हूँ, अधिक कहूँ क्या देवी।
निज जन्म जन्म में रहूँ सदा पद-सेवी ॥
हे यशस्विनि, तुम मुझे मान्य हो यश से।
पर लगें न मेरे बचन तुम्हें कर्कश से ॥
तुमने मुझको यश दिया स्वयं श्री मुख से।
सुख दान करें अब आर्य बचा कर दुख से ॥

हे राघवेन्द्र, यह दास सदा अनुयायी।
है बड़ी दण्ड से दया अन्त में न्यायी" ॥
"क्या कुछ दिन तक भी राज्य भार है भाई।
सब जाग रहे हैं, अर्ध रात्रि हो आई" ॥
"हे देव, भार के लिए नहीं रोता हूँ।
इन चरणों पर ही मैं अधीर होता हूँ ॥
प्रिय रहा तुम्हें यह दयाधृष्टलक्षण तो।
कर लेंगीं प्रभु-पादुका राज्य-रक्षण तो ॥

तो जैसी आज्ञा, आर्य सुखी हों बन में।
जूझेगा दुख से दास उदास भवन में ॥
बस मिलें पादुका मुझे, उन्हें ले जाऊँ।
बस उनके बल पर, अवधि पार मैं पाऊँ ॥
हो जाय अवधि मय अवध अयोध्या अब से"।
मुख खोल नाथ, कुछ बोल सकूँ मैं सब से" ॥
"रे भाई तूने रुला दिया मुझको भी।
शङ्का थी तुझसे यही अपूर्व अलोभी ॥
था यही अभीप्सित तुझे अरे अनुरागी।
तेरी आर्या के वचन सिद्ध हैं त्यागी ॥"

"अभिषेक अम्बु हो कहाँ अधिष्ठित, कहिए।
उसकी इच्छा है—यहीं तीर्थ बन रहिए॥
हम सब भी कर लें तनिक तपोवन-यात्रा"।
"जैसी इच्छा, पर रहे नियत ही मात्रा"।
तब सब ने जयजयकार किया मनमाना।
वंचित होना भी श्लाघ्य भरत का जाना॥
पाया अपूर्व विश्राम साँस-सी लेकर।
गिरि ने सेवा की शुद्ध अनिल-जल देकर॥

मूँदे अनन्त ने नयन धार वह झाँकी।
शशि खिसक गया निश्चिन्त हँसी हँस बाँकी॥
द्विज चहक उठे हो गया नया उजियारा।
हाटक पट पहने दीख पड़ी गिरमाला॥
सिन्दूर-चढ़ा आदर्श-दिनेश उदित था।
जन जन अपने को आप निहार मुदित था॥
सुख लूट रहे थे अतिथि बिचर कर, गाकर।
'हम धन्य हुए इस पुण्यभूमि पर आकर'॥

इस भाँति जनों के मनोमुकुल खिलते थे।
नव-नव मुनि-दर्शन, प्रकृति दृश्य मिलते थे॥
गुरु-जन-समीप थे एक समय जब राघव।
लक्ष्मण से बोली, जनक-सुता साऽलाघव॥
"हे तात तालसम्पुटक तनिक ले लेना।
बहिनों को बन-उपहार मुझे है देना"॥
"जो आज्ञा।" लक्ष्मण गये तुरन्त कुटी में।
ज्यों घुसे सूर्य-कर-निकट सरोज पुटी में॥

जाकर तुरन्त जो वहाँ उन्होंने देखा।
तो दीख पड़ी कोणस्थ उर्मिला रेखा॥

यह काया है या शेष उसी की छाया
क्षण भर उनकी कुछ नहीं समझ में आया ॥
"मेरे उपवन के हरिण, आज बनचारी।
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो भय भारी" ॥
गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया पद-तल में।
वह भींग उठी प्रिय-चरण भरे दृग-जल में ॥
"वन में तनिक तपस्या करके,
बनने दो मुझको निज योग्य।
भाभी की भगिनी, तुम मेरे,
अर्थ नहीं केवल उपभोग्य" ॥
"हा स्वामी ! कहना था क्या-क्या,
कह न सकी कर्मों का दोष !
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो,
मुझे उसी में है सन्तोष ॥"
एक घड़ी भी बीत न पाई।
बाहर से कुछ वाणी आई ॥
सीता कहती थीं कि "अरे रे।
आ पहुँचे पितृपद भी मेरे !"

—(अष्टम सर्ग से)

वीर शत्रुघ्न (सेना की तैयारी)

नगरी थी निस्तब्ध पड़ी क्षणदा-छाया में।
भुला रहे थे स्वप्न हमें अपनी माया में ॥
जीवन-मरण, समान भाव से जूझ-जूझ कर।
ठहरे पिछले पहर स्वयं ये समझ बूझ कर ॥
पुरी पार्श्व में पड़ी हुई थी सरयू ऐसी।
स्वयं उसी के तीर हंस-माला थी जैसी ॥

बहता जाता नीर और बहता आता था।
गोद भरी की भरी तीर अपनी पाता था॥
भूतल पर थी एक स्वच्छ चादर-सी फैली।
हुई तरङ्गित तदपि कहीं से हुई न मैली॥
ताराहारा चारु-चपल चाँदी की धारा।
लेकर एक उसाँस वीर ने उसे निहारा॥
सकल सौध-भू-पटल व्योम के अटल मुकुर थे।
उडुगण अपना रूप देखते टुकुर टुकुर थे॥

फहर रहे थे केतु उच्च अट्टों पर फर-फर।
डाल रही थी गंध मृदुल मारुत गति भर भर॥
स्वयमपि संशयशील गगन घन-नील गहन था
मीन-मकर, वृष सिंह पूर्ण सागर या वन था॥
झोंके झिलमिल झेल रहे थे दीप गगन के।
खिल-खिल हिल-मिल खेल रहे थे दीप गगन के॥
तिमिर अङ्क में जब अशङ्क तारे पलते थे॥
स्नेह-पूर्ण, पुर दीप दीप्ति देकर जलते थे॥

धूम-धूप लो अहो उच्च ताराओ चमको।
लिपि-मुद्राओ-भूमि-भाग्य की, दमको दमको॥
करने ध्वनि-संकेत शूर ने शंख बजाया।
अन्तर का आह्वान वेग से बाहर आया॥
निकल उठा उच्छ्वास वक्ष से उभर-उभर के।
हुआ कम्बु कृत-कृत्य कंठ की अनुकृति करके॥
उधर भरत ने दिया साथ ही उत्तर मानों।
एक-एक दो हुए, जिन्हें एकादश जानों॥
यों ही शङ्ख असंख्य हो गये, लगी न देरी।
घनन घनन बज उठी गरज तत्क्षण रण-भेरी॥

काँप उठा आकाश चौंककर जगती जागी।
छिपी क्षितिज में कहीं, सभय निद्रा उठ भागी॥
बोले वन में मोर, नगर में डोले नागर।
करने लगे तरङ्ग-भङ्ग सौ सौ स्वर सागर॥
उठी क्षुब्ध-सी अहा! अयोध्या की नर-सत्ता।
सजग हुआ साकेत-पुरी का पत्ता पत्ता॥
भय-विस्मय को शूर-दर्प ने दूर भगाया।
किसने सोता हुआ यहाँ का सर्प जगाया॥
प्रिया कण्ठ से छूट सुभट-कर शस्त्रों पर थे।
त्रस्त-बधू-जन-हस्त स्रस्त से वस्त्रों पर थे॥
प्रिय को निकट निहार उन्होंने साहस पाया।
बाहु बढ़ा, पद रोप, शीघ्र दीपक उकसाया॥
अपनी चिंता भूल, उठी माता झट लपटी।
देने लगीं सभाल बाल-बच्चों को थपकी॥
"भय क्या, भय क्या हमें राम राजा हैं अपने।
दिया भरत-सा सुफल प्रथम ही जिनके तप ने॥
चरर-मरर खुल गये अरर बहु रव स्फुटों से।
क्षणिक रुद्ध थे तदपि विकट भट उरः पटों से॥
बाँधे थे जन पाँच पाँच आयुध मन भाए।
पंचानन गिरि-गुहा छोड़ ज्यों बाहर आये॥
"धरने आया कौन आग, मणियों के धोखे?"
स्त्रियाँ देखने लगीं दीप धर, खोल झरोखे॥
"ऐसा जड़ है कौन, यहाँ भी जो चढ़ आवे।
यह थल भी है कहाँ जहाँ निज दल बढ़ जावे?
राम नहीं घर, यही सोच कर लोभी मोही।
क्या कोई माण्डलिक हुआ सहसा विद्रोही?

मरा अभागा, उन्हें जानता है जो बन में।
रमे हुए हैं यहाँ राम-राघव जन-जन में" ॥
"पुरुष-वेश में साथ चलूँगी मैं भी प्यारे।
राम-जानकी संग गये, हम क्यों हों न्यारे" ?
"प्यारी, घर ही रहो उर्मिला रानी-सी तुम।
क्रान्ति-अनन्तर मिलो कान्ति मनमानी-सी तुम" ॥
पुत्रों को नत देख धात्रियाँ बोलीं धीरा।
"जाओ, बेटा-'राम-काज' क्षणभंग शरीरा' ॥"

पति से कहने लगी पत्नियाँ—"जाओ स्वामी।
बने तुम्हारा वत्स तुम्हारा ही अनुगामी ॥
जाओ, अपने राम-राज्य की आन बढ़ाओ।
वीर-वंश की बान, देश का मान बढ़ाओ" ॥
"अम्ब, तुम्हारा पुत्र पैर पीछे न धरेगा।
प्रिये, तुम्हारा पति न मृत्यु से कहीं डरेगा ॥
फिर भी फिर भी अहो! विकल-सी तुम हो रोती"।
"हम यह रोती नहीं, वारतीं मानस-मोती" ॥

ऐसे अगणित भाव उठे रघु-सगर-नगर में।
बगर उठे बढ़ अगर-तगर से डगर डगर में ॥
चिन्तित-से काषाय-वसनधारी सब मन्त्री।
आ पहुँचे तत्काल, और बहु यन्त्री-तन्त्री ॥
चंचल जल-थल-बलाध्यक्ष निज दल सजते थे।
झन झन घन घन समर-बाद्य बहु बिध बजते थे ॥
पाल उड़ाती हुईं, पंख फैला कर नावें।
प्रस्तुत थीं, कब किधर हंसिनी-सी उड़ जावें ॥
हिलने डुलने लगे पंक्तियों में बँट बेड़े।
थपकी देने लगी तरंगें मार थपेड़े ॥

उल्काएँ सब ओर प्रभा-सी पाट रही थीं।
पी पीकर पुर तिमिर जीभ-सी चाट रही थी॥
हुईं हतःप्रभ नभोजड़ित हीरों की कनियाँ।
मुक्ताओं-सी वेध न लें भालों की अनियाँ॥
तुले, धुले से खुले खड्ग चमचमा रहे थे।
तप्त सादियों के तुरंग तमतमा रहे थे॥
हींस, लगामें चाब, धरातल खूँद रहे थे।
उड़ने को उत्कर्ण कभी वे कूद रहे थे॥
करके घंटा-नाद, शस्त्र लेकर शुण्डों में।
दो दो दृढ़ रद-दण्ड दबा कर निज तुण्डों में॥
अपने मद की नहीं आप ही ऊष्मा सह कर।
झलते थे श्रुति-तालवृन्त दन्ती रह रह कर॥
योद्धाओं का धन सुवर्ण से सार सलोना।
जहाँ हाथ में लोह वहाँ पैरों में सोना॥
मानों चले सगेह रथीजन बैठ रथों में।
आगे थे टङ्कार और झंकार पथों में॥

—(द्वादश सर्ग से)

जयशंकर 'प्रसाद'

कवि-परिचय—

पवित्र काशी धाम में सं० १९४६ में कान्यकुब्ज वैश्य कुल में बाबू जयशंकर प्रसाद जी का शुभ जन्म हुआ। आपके पितामह 'सुंघनी साहु' कहलाते थे। छोटी ही अवस्था में आपके पिता का देहान्त हो गया। सत्रह वर्ष की अवस्था में जब इनके बड़े भाई का देहान्त हो गया, तभी से गृहस्थी का सारा बोझ आप ही पर आ गिरा जिससे आपकी स्कूली शिक्षा रुक गई। घर पर आपने अँग्रेजी, संस्कृत व फारसी की शिक्षा प्राप्त की।

जयशंकर 'प्रसाद'

आपकी प्रतिभा बहुमुखी है। आप हिन्दी में नवयुग-प्रवर्त्तक कहे जाते हैं। रहस्यवाद के आप जन्मदाता एवं अतुकान्त छन्द के प्रथम प्रचारक हैं। आपके विचार मौलिक हैं, दार्शनिकता के कारण आपके नाटकों के कतिपय कथोपकथन दुरूह अवश्य हो गये हैं। आपकी भाषा में तत्सम शब्द बहुत हैं। आपने कई अप्रचलित छन्दों का उद्धार किया है। आपकी मुख्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(क) नाटक—(१) अजातशत्रु (२) चन्द्रगुप्त, (३) स्कन्दगुप्त (४) जनमेजय का नागयज्ञ (५) ध्रुव-स्वामिनी, (६) विशाख (७) राज्यश्री।

प्रसादजी के नाटकों में भारत की ऐतिहासिक सामग्री का अच्छा उपयोग किया गया है। आपकी शैली न तो पाश्चात्य नाटककारों की यथार्थोन्मुखी एवं विवाद-प्रधान है, न राय जैसे नाट्यकारों की भाँति उद्विग्नताजनक है। इस विषय में आपने मध्यम मार्ग ग्रहण किया है। अभिनय के लिये बिल्कुल ठीक होने के लिये नाटककार का रंगमंच से घनिष्ठ सम्बन्ध होना आवश्यक है। प्रसादजी के नाटकों में साहित्यिक प्रभविष्णुता अवश्य सुलभ है। आपका "एक घूँट" एकांकी और 'कामना' एक नाट्य रूपक है। इससे स्वर्ण और सुरा प्रधान वर्त्तमान सभ्यता पर एक तीव्र व्यङ्ग है। प्रसादजी के नाटकों में सांस्कृतिक पक्ष प्रबल है और उनमें सुन्दर अन्तर्द्वन्द्वों के दर्शन होते हैं।

आपके 'सज्जन' नाम के नाटक में प्राचीन परम्परा का अनुसरण किया गया है।

(ख) कहानियाँ—(१) आँधी (२) प्रतिध्वनि (३) छन्द (४) छाया के चार संग्रह अभी प्रकाशित हुए हैं, आपकी कहानियाँ बड़ी रोचक हैं।

(ग) उपन्यासों में 'कंकाल' एवं 'तितली' प्रसिद्ध हैं। आपका 'इरावती' नाम का अपूर्ण उपन्यास भी अब प्रकाशित हो गया है।

(घ) कविता—(१) चित्राधार (२) कानन-कुसुम (३) झरना (४) आँसू (५) लहर (६) कामायनी।

आपकी कविता का मुख्य विषय 'प्रेम' है। आपका प्रेम लौकिक सौन्दर्य पर कुछ टिक कर अलौकिक की ओर उन्मुख हो जाता है। पुराने उपमानों के आधार पर आपने नयी-नयी कल्पनाएँ की हैं जो देखते ही बनती हैं। कहीं-कहीं आपने प्रचलित उपमानों को बड़ी सार्थकता प्रदान की है, देखिए—

मुख कमल समीप सजे थे दो किसलय से पुरइन के।
जल बिन्दु सदृश ठहरे कब इन कानों में दुख किनके॥

बात की सुनवाई न होने का अच्छा काव्यमय कारण बतला दिया गया है। भौहों को तन-छवि लहर कहना अथवा सौन्दर्य बोध कराने के लिये 'चंचला स्नान कर आवे ज्योत्स्ना पर्व में जैसी' उत्प्रेक्षा करना प्रसादजी की उर्वरा कल्पना का द्योतक है। इस सौन्दर्य वर्णन में एक साथ कृशता, सुकुमारता, चञ्चलता, गतिमयता, शुभ्रता और प्रसादकता (प्रसन्नता देने की शक्ति) व्यंजित हो जाती है। कहीं-कहीं प्रसादजी रूपकातिशयोक्तियों की बड़ी सुन्दर छटा दिखा देते हैं। यथा—

'बाँधा विधु को किसने, इन काली जंजीरों से।'

यहाँ 'विधु' (चन्द्रमा) मुख के लिये है और 'काली जंजीरों' का उपयोग बालों के लिये है।

कहीं-कहीं लाक्षणिकता लाने के प्रयत्न में प्रसादजी स्वाभाविकता की मर्यादा से बाहर हो गये हैं। देखिये —

"अभिलाषाओं की करवट, फिर सुप्त व्यथा का जगना।"

जो हो, प्रसादजी नवीन युग के कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं।

आपकी भाषा संस्कृतगर्भित है जिसमें तत्सम शब्दों की प्रचुरता रहती है। कहीं-कहीं कठिन शब्दों के प्रयोग के कारण तथा भाव की गूढ़ता के कारण आपकी भाषा दुरूह हो जाती है। आपके वर्णनों में एक प्रकार की रहस्यमयता रहती है और व्यञ्जना के प्राधान्य के कारण आपकी रचनाओं में एक विशेष कवित्व आ जाता है।

———

आँसू

मुख-कमल समीप सजे थे,
दो किसलय दल पुरइन के;
जल-बिन्दु सदृश ठहरे कब,
इन कानों में दुख किनके।
थीं किस अनङ्ग के धनु की,
वह शिथिल शिञ्जिनी दुहरी;
अलबेली बाहु-लता था,
तन-छवि-सर की है लहरी।
चञ्चला स्नान कर आवे,
चन्द्रिका-पर्व में जैसी;
उस पावन तन की शोभा,
आलोक मधुर थी ऐसी।
गौरव था नीचे आये,
प्रियतम मिलने को मेरे;
मैं इठला उठा, अकिंचन,
देखे ज्यों स्वप्न सवेरे।
विष-प्याली जो पी ली थी,
वह मदिरा बनी नयन में;
सौन्दर्य-पलक-प्याले का,
अब प्रेम बना जीवन में।
छलना थी, तब भी मेरी,
उसमें विश्वास घना था;
उस माया की छाया में,
कुछ सच्चा स्वयं बना था।

रो रोकर सिसक सिसक कर;
कहता मैं विरह कहानी;
वे सुमन नोचते, सुनते,
करते जानी अनजानी।
"तुम सत्य रहे चिर-सुन्दर,
मेरे इस मिथ्या जग के;
थे कभी न क्या तुम साथी,
कल्याण-कलित इस मग के।

माना कि रूप सीमा है,
यौवन में, सुन्दर ! तेरे;
पर एक बार आये थे,
निस्सीम हृदय में मेरे।
वह रूप रूप था केवल,
था हृदय भी रहा उसमें;
जड़ता की सब माया थी,
चैतन्य समझ कर मुझको।
घिर जातीं प्रलय-घटाएँ,
कुटिया पर आकर मेरी;
तम चूर्ण बरस जाता था,
छा जाती अधिक अँधेरी।
बिजली-माला पहने फिर,
मुसक्याता सा आँगन में;
हाँ, कौन बरस जाता था,
रस बूँद हमारे मन में ?
है हृदय शिशिर-कण-पूरित,
मधु वर्षा से शशि तेरी;

मुक्ता-मण्डित हृद्‌मन्दिर,
रहता था नित्य सवेरे।
शीतल समीर आता है,
कर पावन परस तुम्हारा;
मैं सिहिर उठा करता हूँ,
बरसा कर आँसू धारा।
परिरम्भ कुम्भ की मदिरा,
निश्वास मलय के झोंके;
मुख-चन्द्र-चाँदनी-जल से,
मैं उठता था मुँह धोके।
थक जाती थी सुख रजनी,
मुख चन्द्र अंक में होता;
श्रम सीकर सदृश नखत से,
अम्बर पट भींगा होता।
हलते द्रुमदल कल किसलय,
देती गल-बाँहीं डाली;
फूलों का चुम्बन, छिड़ती—
मधुपों की तान निराली।
मुरली मुखरित होती थी,
मुकुलों के अधर विहँसते;
मकरन्द भार से दब कर,
श्रवणों में स्वर जा बसते।
मधु राका मुसक्याती थी,
पहले देखा जब तुमको;
परिचित-से जाने कब के,
तुम लगे उसी क्षण हमको।

परिचय! राका जलनिधि का,
जैसा होता हिमकर से;
ऊपर से किरणें आतीं;
मिलती हैं गले लहर से।
कामना-सिंधु लहराता,
छवि-पूरनिमा थी छाई;
रतनाकर बनी चमकती,
मेरे शशि की परिछाँई।
अब पारावार तरल हो,
फेनिल हो गरल उगलता;
मथ डाला किस तृष्णा से,
तल में बड़वानल जलता।
सिकता समुद्र! सूखे में,
नैया थी मेरे मन की;
आँसू की धार बहाकर,
खे चला प्रेम बे-गुन की।
तिरती थी तिमिर उदधि में,
नाविक! यह मेरी तरणी;
मुख-चन्द्र-किरण से खिंच कर,
आती समीप हो धरणी।

———

श्री वियोगी हरि

कवि-परिचय—

आपका नाम श्री हरि प्रसाद द्विवेदी है। आप सं० १९६३ में छतरपुर राज्य में उत्पन्न हुए; छतरपुर राज्य में ही शिक्षा दीक्षा हुई और वहीं आप में दार्शनिकता और वैष्णवता के संस्कार जमे। आप छतरपुर की स्वर्गीया राजमहिषी को, जो जुगलप्रिया के नाम से कविता करती थीं, अपना गुरु मानते रहे और उनके साथ भारत के प्रमुख तीर्थों में पर्यटन किया। आप कुछ दिनों पन्ना दरबार में भी रहे थे। आजकल आपने कविता-क्षेत्र से विश्राम लेकर हरिजन सम्बन्धी सेवा-कार्य में अपना सब समय लगा दिया है। "हरिजन" पत्र का आप सम्पादन भी करते हैं। कविता-क्षेत्र से विराम लेने के पूर्व आप ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में माने जाते थे। आपने गद्य-साहित्य में भावात्मक गद्य को अभिवृद्धि में अच्छा योग दिया है किन्तु इस स्थान पर हमें आपकी कविता के विषय में किंचित् विचार करना है।

आपके भक्तिभाव के उद्‌गार हार्दिक होने के कारण मर्मस्पर्शी हैं। आप भक्तिभावना और प्रेम सम्बन्धी विचारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द से प्रभावित हैं। उनका सा हो आप में प्रेम का अक्खड़पन है जो उनके गद्य-काव्यों में प्रस्फुटित हुआ है। आप कट्टरता के विरोधी हैं। आप वीर रस की कविताएँ करने में भी सिद्धहस्त हैं। वीर रस को आपने व्यापक अर्थ में लिया है यथा दानवीर, दयावीर, धर्मवीर एवं युद्धवीर।

हिन्दी-साहित्य में शुद्ध वीर रस के काव्य बहुत कम हैं। भूषण, लाल, चन्द्रशेखर बाजपेयी, सूदन आदि कतिपय कवियों की रचनाओं को छोड़ देने पर इसमें बाकी कुछ रहता ही नहीं। अतः आपकी वीर सतसई का साहित्य में बहुत महत्त्व है। सम्मेलन ने इसी कारण आपको मंगलाप्रसाद पारितोषिक देकर सम्मानित किया था।

वीर रस की स्थापना के लिये आलम्बन उदात्त गुणोपेत नायक होना चाहिए। अतः चुने हुए वीरों की प्रशस्ति लिख कर वियोगी हरिजी ने अपनी मार्मिकता का परिचय दिया है।

आपकी भाषा में रत्नाकर की सी सफाई नहीं आने पाई है। भ्रमात्मक अनुरूपता से आप 'देतहैं' का 'देनुहैं' करते हुए देखे जाते हैं। इसी प्रकार 'स्मशान' का 'समसानु' करना भी ब्रजभाषा के अनुसार नहीं है 'मसानु' होता तो और बात थी। अलंकारों की ओर भी आपकी रुचि विशेष रूप से नहीं मालूम होती, किन्तु यथासमय उनका सफल प्रयोग किया है। अपभ्रंश-काल के कतिपय शब्द जैसे 'सायर' आदि का भी प्रयोग आपकी भाषा में यत्र-तत्र मिलता है।

किन्तु भाव क्षेत्र में आपकी सफलता असाधारण है। ब्रजभाषा में नवीन विषयों का प्रयोग करने वालों में आपका नाम भी लिया जा सकता है।

प्रेम और माधुर्य की व्यंजना में भी आपको असाधारण सफलता मिली है।

————

भीष्म-प्रतिज्ञा

रहि हौं अस्त्र गहाय हरि! रखि निज प्रण की लाज।
कै अब भीषम ही यहाँ, कै तुमहीं यदुराज॥
सरनि ढाँपि रवि-मंडलहिं, शोणित-सरित अन्हाय।
तेरी ही सौं तोहि हरि! रहि हौं अस्त्र गहाय॥
तेरी ही सौं, युद्ध मधि, तेरे ही बल आज।
हों शान्तनु-सुत मेंटिहौं प्रण तेरो, यदुराज॥
इत पारथ रथ-सारथी, उत भीषम रण-धीर।
तिलहूँ नहिं टारे टरै, दुहूँ बज्र प्रण-वीर॥
मुख श्रम सीकर, दृग अरुण, रण-रज-रंजित केश।
फहरतु पटु, गहि चक्र हरि, धाये सुभट सुवेश॥
रज-रंजित कच, रुधिर-मिलि, झलकत श्रमकण अंग।
फहरतु पटु गहि चक्र हरि धाये करि प्रण भंग॥
भक्त बछल पारथ-सखा, धन्य धन्य, यदुराज।
राखी, निज प्रण मेंटि जन, शान्तनु-सुत की लाज॥
प्रण कीनो बहु वीर जग, टेकहुँ गहीं अनेक।
पै भीषण व्रत आजुलौं, है भीषमव्रत एक॥
समसरि कासौं कीजियै, मिल्यो नाहिं उपमान।
भीषम सो भीषम भयौ, वह भीषम व्रतवान॥

वीरता और सुकुमारता

बस काढ़ौ मति म्यान तैं, यह तीछन तलवार।
जानत नहिं ठाढ़े यहाँ रसिक छैल सुकुमार॥
बादि दिखावत खोलि इत, तुपक तीर तलवार।
सुरमा मीसी के यहाँ, बसत बिसाहनहार॥

कवच कहा ए धारिहैं, लचकीले मृदु गात।
सुमन हार के भार जे, तीन-तीन बल खात॥
कै चढ़िलै असि-धार पै, कै बनिलै सुकुमार।
द्वै तुरंग पै एक संग, भयौ कौन असवार?॥
किमि कोमल अँग ओढ़िहैं, असह्नीय असि घाय।
जिनपै गहब गुलाब की, गड़ि खरोंट परि जाय॥
पोंछि पोंछि राख्यौ जिन्हें, नित रमाय रस-रंग।
समर घाव ते ओढ़िहैं, किमि किसलय से अंग॥
क्यों करि डाइन डाकिनी, कड़कड़ हाड़ चबाति।
इत तौ झिली अंगूर की, ओंठनु गड़ि गड़ि जाति॥
जहँ गुलाब हू गात पै, गढ़ि छाले करि देत।
बलिहारी! बखतरनु के, तहाँ नाम तुम लेत॥
"झझकत हिये गुलाब कै झँवा झँवैयत पाइ।"
या विधि इत सुकुमारता अब न दई सरसाइ॥
आव भलैं जरि, जरित जा, उरध उसाँसनि देह।
चिरजीवौ तनु, रमतु जो, प्रलय अनलु कै गेह॥
होउ गलित वह अंग जेहि, लागति कुसुम खरोंट।
चिरजीवौ तनु, सहतु जो, पुलकि पुलकि पवि चोट॥
राज ताज कौ भार किमि, साधे सिर सुकुमार।
डगर डगत से चलत जो, निज तनुहीं के भार॥

———

सुमित्रानन्दन पन्त

कवि-परिचय—

"पन्तजी" का शुभ-जन्म सं० १९५८ में अल्मोड़ा में हुआ। आप पर्वतीय ब्राह्मण हैं। आपने बी० ए० तक अध्ययन किया किन्तु परीक्षा न देकर कॉलिज से विदा ले ली। प्रयाग म्योर सेन्ट्रल कॉलिज में आपने शिक्षा प्राप्त की थी। सम्भवतः आप भी बर्नार्ड शा की तरह कहें, 'मैं अपनी शिक्षा के कारण अपने वर्तमान स्थान पर नहीं पहुँचा हूँ किन्तु उसके होते हुए भी।"

सुमित्रानन्दन पन्त

अस्तु, स्वतन्त्रता के वातावरण में ही आपने भावुकतामयी पाठशाला खोली, उसके आप ही अध्यापक थे, एवं आप ही शिक्षार्थी। कभी साधारण विद्यार्थी की भाँति आप प्रश्न करते हैं:—

"उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही माँ!
ऊषा की मृदु लाली में?"

कभी स्वयं ही उसका उपयुक्त उत्तर देते हैं। आप गृहस्थाश्रम के प्रपञ्च में नहीं पड़े हैं। कविता करते हैं एवं मस्त रहते हैं। हिन्दी कविता में आप नवीन युग के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। अँग्रेजी साहित्य का आप पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। भाव हिन्दी में पूर्ण तौर पर अपना लिये गये हैं जो आपकी प्रतिभा ही के कारण सम्भव था।

आप प्रारम्भ में मधुपकुमारी से प्रार्थना करते हैं :—

सिखा दो रे, ना मधुप-कुमारि !
मुझे भी अपने मीठे गान ॥

किन्तु प्रतिभा का पूर्ण विकास होने पर आप कह उठते हैं :—

"मुझे लौटा दो विहँग कुमारि,
सजल मेरा सोने सा गान ।

ये दोनों अवतरण कवि की प्रतिभा के विकास का अन्तर स्वयं ही बतलाते हैं। आप में प्रेमतत्त्व की व्यञ्जना अनुभूतिजन्य एवं उर्वर कल्पना प्रसूत है। प्रभविष्णुता एवं सत्यता के साथ ही आपकी सुकुमार भावनाओं में मार्मिकता है। प्रकृति-चित्रण, प्रेम, सुख-दुख की जीवन-मीमांसा और रहस्यवाद आपकी कविता के मूल विषय हैं। आपके लिये प्रकृति सजीव बन जाती है, आप उससे भावों का आदान-प्रदान करते प्रतीत होते हैं। 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में—जो यहाँ उद्धृत की गई है-प्रकृति में परमात्मा व्याप्त माना गया है और सब परिवर्तनों को उसकी ही क्रीड़ा माना गया, इसमें देश की गिरी हुई दशा की भी व्यञ्जना है।

आपकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं:—

(१) ग्रन्थि (२) वीणा (३) पल्लव (४) गुञ्जन
(५) ज्योत्सना (नाटक) (६) युगान्त (७) युगवाणी (८) ग्राम्या।

आपका कविता की उत्पत्ति के विषय में यह मत—

'वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान !
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
वही होगी कविता अनजान !

आपको करुण-रसाचार्य भवभूति के निकट पहुँचा देता है। उच्छ्वास की बालिका के विषय से आपकी यह उक्ति अधिक लागू होती है—

सुमित्रानन्दन पन्त

सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषन।

आपकी भाषा बड़ी परिमार्जित, सत्वर, कोमल और प्रवाहमय है। खड़ी बोली को कोमल और संगीतमय बनाने का आपको विशेष श्रेय है। आपकी भाषा भावानुसारिणी है। विषय के अनुकूल उसमें माधुर्य और ओज-गुण का समावेश किया गया है। आपको 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में ओज की मात्रा अधिक है। शब्दों की प्रतिध्वन्यात्मकता उनका अर्थ स्वयं ही मुखरित करने लगती है। 'शतशत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयङ्कर' में वासुकि की प्रलयकालीन फूत्कारों की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगती है। चित्रोपमता आपकी भाषा का विशेष गुण है। आपने पुराने ढङ्ग की उपमाओं में नवीन रस भर दिया है और मानवीकरण और विशेषण-विपर्यय (जैसे तुतलामय, गीला गान आदि) नये अलंकारों का भी प्रयोग किया है।

आपने व्याकरण के नियमों को यत्र-तत्र तोड़ दिया है—विशेषकर लिङ्ग-निर्णय के सम्बन्ध में हम केवल यही कहकर सन्तोष कर लेते हैं—

लीक लीक कायर चलै, लोकै लीक कपूत।
लीक छोड़ तीनों चलैं, सायर, सिंह, सपूत॥

———

परिवर्तन

(१)

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल!
भूतियों का दिगन्त-छवि-जाल,
ज्योति-चुम्बित जगती का भाल?
राशि राशि विकसित वसुधा का वह यौवन-विस्तार?
स्वर्ग की सुषमा जब साभार,
धरा पर करती थी अभिसार!
प्रसूनों के शाश्वत-शृङ्गार
(स्वर्ण भृङ्गों के गन्ध-बिहार)
गूँज उठते थे बारम्बार,
सृष्टि के प्रथमोद्गार!
नग्न सुन्दरता थी सुकुमार,
ऋद्धि औ' सिद्धि अपार!
अये, विश्व का स्वर्ण स्वप्न, संसृति का प्रथम-प्रभात
कहाँ वह सत्य, वेद विख्यात?
दुरित, दुख, दैन्य न थे जब ज्ञात,
अपरिचित जरा-मरण-भ्रू-पात!

(२)

हाय! सब मिथ्या-बात!
आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी-साँस!
वही मधुऋतु की गुञ्जित-डाल
झुकी थी जो यौवन के भार
अकिञ्चनता में निज तत्काल
सिहर उठती,—जीवन है भार!

आज पावस-नद के उद्गार
काल के बनते चिन्ह-कराल;
प्रात का सोने का संसार
जला देती संध्या की ज्वाल!

अखिल यौवन के रङ्ग उभार
हड्डियों के हिलते कङ्काल;
कचों के चिकने; काले व्याल
केंचुली, काँस सिवार;

गूँजते हैं सब के दिन-चार,
सभी फिर हाहाकार!

(३)

आज बचपन का कोमल-गात
जरा का पीला पात!
चार-दिन सुखद चाँदनी रात
और फिर अन्धकार अज्ञात!

शिशिर-सा झर नयनों का नीर
झुलस देता गालों के फूल!
प्रणय का चुम्बन छोड़ अधीर
अधर जाते अधरों को भूल!

मृदुल-होठों का हिमजल-हास
उड़ा जाता निःस्वास-समीर;
सरल-भौंहों का शरदाकाश
घेर लेते घन, घिर गम्भीर!

शून्य-साँसों का विधुर वियोग
छुड़ाता अधर-मधुर-संयोग;
मिलन के पल केवल दो, चार,
विरह के कल्प अपार!

अरे, वे अपलक चार-नयन
आठ-आँसू रोते निरुपाय;
उठे-रोओं के आलिङ्गन
कसक उठते काँटों-से हाय!

(४)

किसी को सोने के सुख साज
मिल गए यदि ऋण भी कुछ आज;
चुका लेता दुख कल ही ब्याज
काल को नहीं किसी की लाज

विपुल मणि-रत्नों का छवि-जाल
इन्द्रधनु की सी छटा विशाल—
विभव की विद्युत-ज्वाल
चमक छिप जाती है तत्काल;
मोतियों जड़ी ओस की डार
हिला जाता चुपचाप बयार!

(५)

खोलता इधर जन्म लोचन
मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण;
अभी उत्सव और 'हास-हुलास'
अभी अवसाद, अश्रु, उच्छ्वास!

अचरिता देख जगत की आ
शून्य भरता समीर निःश्वास
डालता पातों पर चुपचा
ओस के आँसू नीलाकाश

सिसक उठता समुद्र का मन,
सिहर उठते उडगन!

(६)

अहे निष्ठुर-परिवर्तन !

तुम्हारा ही ताण्डव-नर्तन
विश्व का करुण-विवर्तन !
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,
निखिल उत्थान, पतन !
अहे वासुकि सहस्र-फन !

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिन्ह निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत-वक्षःस्थल पर !
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत-फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !
मृत्यु तुम्हारा गरल-दन्त, कंचुक कल्पान्तर,
अखिल विश्व ही विवर
वक्र कुण्डल
दिङ् मण्डल

(७)

अहे दुर्जेय विश्वजित् !

नवाते शत सुरवर, नरनाथ
तुम्हारे इन्द्रासन तल माथ,
घूमते शत-शत भाग्य अनाथ
सतत रथ के चक्रों के साथ

तुम नृशंस-नृप-से जगती पर चढ़ अनियन्त्रित,
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद-मर्दित;
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खण्डित,
हर लेते हो विभव, कला-कौशल चिर सञ्चित !

आधि-व्याधि, बहु-वृष्टि, वात, उत्पात, अमङ्गल,
वन्हि, बाढ़, भू-कम्प, तुम्हारे विपुल सैन्य-दल;
अहे निरंकुश! पदाघात से जिनके विह्वल
हिल हिल उठता है टल मल
पद-दलित धरातल!

(८)

जगत् का अविरत हृत्कम्पन
तुम्हारा ही भय-सूचन!
निखिल-पलकों का मौन पतन
तुम्हारा ही आमन्त्रण!
विपुल-वासना-विकच विश्व का मानव-शतदल
छान रहे तुम, कुटिल काल कृमि-से घुस पल-पल
तुम्हीं स्वेद सिञ्चित संसृति के स्वर्ण-शस्य दल।
दलमल देते वर्षोपल बन, वाञ्छित कृषिफल।
अये, सतत-ध्वनि स्पन्दित जगती का दिङ् मंडल
नैश-गगन-सा सकल
तुम्हारा ही समाधि-स्थल!

(९)

काल का अकरुण-भृकुटि-विलास
तुम्हारा ही परिहास;
विश्व का अश्रु-पूर्ण इतिहास
तुम्हारा ही इतिहास!
एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयकर
समर छेड़ देता निसर्ग-संसृति में निर्भर;
भूमि चूम जाते अभ्रध्वज-सौध शृंगवर,
नष्ट-भ्रष्ट साम्राज्य—भूति के मेघाडम्बर!

अये एक रोमांच तुम्हारा दिग्भू कम्पन,
गिर गिर पड़ते भीत-पच्छि पोतों से उडगन;
आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत कर शत शत फन
मुग्ध-भुजङ्गम-सा, इङ्गित पर करता नर्तन!
दिक्‌-पिंजर में बद्ध, गजाधिप-सा विनतानन
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु-गर्जन

(१०)

जगत् की शत-कातर-चीत्कार
बेधती बधिर! तुम्हारे कान!
अश्रु स्रोतों की अगणित धार।
सींचती उर-पाषाण!

अरे क्षण-क्षण सौ-सौ निःश्वास
छा रहे जगती का आकाश!
चतुर्दिक घहर घहर आक्रान्ति
ग्रस्त करती सुख शान्ति!

(११)

हाय री दुर्बल-भ्रान्ति!—
कहाँ नश्वर-जगती में शान्ति
सृष्टि ही का तात्पर्य अशान्ति!
जगत् अविरत-जीवन-संग्राम
स्वप्न है यहाँ विराम।

एक सौ वर्ष, नगर उपवन,
एक सौ वर्ष, विजन-वन!
—यही तो है असार संसार।
सृजन, सिंचन, संहार

आज गर्वोन्नत-हर्म्य -अपार
रत्न दीपावलि, मन्त्रोच्चार;
उलूकों के कल भग्न-विहार,
झिल्लियों की झनकार।
दिवस-निशि का यह विश्व विशाल,
मेघ-मारुत का माया जाल!

(१२)

अरे, देखो इस पार—
दिवस की आभा में साकार
दिगम्बर, सहम रहा संसार
हाय! जग के करतार!!

प्रात ही तो कहलाई मात,
पयोधर बने उरोज उदार,
मधुर उर-इच्छा को अज्ञात
प्रथम ही मिला मृदुल आकार

छिन गया हाय! गोद का बाल,
गड़ी है बिना बाल की नाल!

अभी तो मुकुट बँधा था माँथ,
हुए कल ही हल्दी के हाथ;
खुले भी न थे लाज के बोल!
खिले भी चुम्बन-शून्य कपोल;
हाय! रुक गया यहीं संसार
बना सिन्दूर अंगार!
बात-हत-लतिका वह सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार!!

(१३)

काँपता उधर दैन्य निरुपाय,
रज्जु-सा, छिद्रों का कृश-काय।
न उर में गृह का तनिक दुलार,
उदर ही में दोनों का भार!

भूँकता-सिड़ी शिशिर का श्वान
चीरता हरे! अचीर शरीर;
न अधरों में स्वर, तन में प्राण,
न नयनों ही में नीर!

(१४)

सकल रोओं से हाथ पसार
लूटता इधर लोभ गृह-द्वार;
उधर बामन-डग-स्वेच्छाचार
नापता जगती का विस्तार;
टिड्डियों-सा छा अत्याचार।
चाट जाता संसार!

(१५)

बजा लोहे के दन्त कठोर
नाचती हिंसा जिह्वा लोल;
भृकुटि के कुण्डल वक्र मरोर
फुहुँकता अन्ध-रोष फन खोल

लालची गीधों से दिन रात
नोंचते रोग-शोक नित गात,
अस्थि-पञ्जर का दैत्य दुकाल
निगल जाता निज बाल।

(१६)

बहा नर शोणित मूसलधार
रुण्ड-मुण्डों की कर बौछार
प्रलय-घन-सा घिर भीमाकार
गरजता है दिगन्त संहार।
छेड़ खर-शास्त्रों की झङ्कार।
महाभारत गाता संसार!

कोटि मनुजों के निहत अकाल
नयन-मणियों से जटित कराल
अरे, दिग्गज-सिंहासन-जाल
अखिल मृत-देशों के कङ्काल;
मोतियों के तारक-लड़-हार।
आँसुओं के शृङ्गार!

(१७)

रुधिर के हैं जगती के प्रात,
चितानल के ये सायंकाल;
शून्य निश्वासों के आकाश,
आँसुओं के ये सिन्धु विशाल;
यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु,
अरे, जग है जग का कंकाल!!
वृथा रे, ये अरण्य चीत्कार,
शान्ति, सुख है उस पार!

(१८)

आह भीषण उद्गार!
नित्य का यह अनित्य-नर्तन
विवर्तन जग, जग व्यावर्तन

अचिर में चिर का अन्वेषन
विश्व का तत्व पूर्ण-दर्शन !

अतुल से एक अकूल उमङ्ग
सृष्टि की उठती तरल-तरंग
उमड़ शत शत बुद्‌बुद्‌-संसार

बूड़ जाते निस्सार !
बना सैकत के तट अतिवात !
गिरा देती अज्ञात !

(१६)

एक छबि के असंख्य-उडगन
एक ही सब में स्पन्दन;
एक छबि के विभात में लीन,
एक विधि के आधीन

एक ही लोल-लहर के छोर
उभय सुख-दुख निशि-भोर,
इन्हीं से पूर्ण त्रिगुण-संसार,
सृजन ही है, संहार।

मूँदती नयन मृत्यु की रात,
खोलती नव-जीवन की प्रात,
शिशिर की सर्व-प्रलयकर बात,
बीज बोती अज्ञात !

म्लान कुसुमों की मृदु-मुसकान
फलों में फलतीं फिर अम्लान,
महत् है, अरे, आत्म बलिदान,
जगत केवल आदान-प्रदान !

(२०)

एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास;
तरल जल-निधि में हरित-विलास
शान्त अम्बर, में नील-विकास

वही उर उर में प्रेमोच्छ्वास,
काव्य में रस, कुसुमों में वास;
अचल तारक-पलकों में हास;
लोल लहरों में लास!

विविध द्रव्यों में विविध प्रकार
एक ही मर्म-मधुर झङ्कार;

(२१)

वही प्रज्ञा का सत्य-स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार;
लोचनों में लावण्य-अनूप,
लोक-सेवा में शिव-अविकार;

स्वरों में ध्वनित मधुर, सुकुमार
सत्य ही प्रेमोद्गार;
दिव्य-सौन्दर्य, स्नेह-साकार
भावनामय संसार!

(२२)

स्वीय कर्मों ही के अनुसार
एक गुण फलता विविध प्रकार;
कहीं राखी बनता सुकुमार,
कहीं बेड़ी का भार!

(२३)

कामनाओं के विविध प्रहार
छेड़ जगती के उर के तार
जगाते जीवन की झंकार
स्फूर्ति करते संचार
चूम सुख दुख के पुलिन अपार
छलकती ज्ञानामृत की धार!

पिघल होठों का हिलता-हास
दृगों को देता जीवन-दान
वेदना ही में तपकर प्राण
दमक, दिखलाते स्वर्ण-हुलास!

तरसते हैं हम आठों याम
इसी से सुख अति-सरस, प्रकाम;
झेलते निशि-दिन का संग्राम,
इसी से जय अभिराम;
अलभ है इष्ट, अतः अनमोल,
साधना ही जीवन का मोल

(२४)

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार;
दीन दुर्बल है रे संसार,
इसी से दया, क्षमा, औ प्यार!

(२५)

आज का दुख, कल का आह्लाद,
और कल का सुख, आज विषाद;
समस्या स्वप्न-गूढ़ संसार,
पूर्ति जिस की उस पार;

जगत-जीवन का अर्थ विकास
मृत्यु, गति-क्रम का ह्रास

(२६)

हमारे काम न अपने काम,
नहीं हम, जो हम ज्ञात;
अरे निज छाया में उपनाम,

छिपे हैं हम अपरूप,
गँवाने आये हैं अज्ञात,
गँवाकर पाते स्वीय-स्वरूप!

(२७)

जगत की सुन्दरता का चाँद,
सजा लाञ्छन को भी अवदात,
सुहाता बदल बदल, दिन-रात,
नवलता ही जग का आह्लाद!

(२८)

स्वर्ण कौशल, स्वप्नों का जाल
मंजरित यौवन, सरस-रसाल;
प्रौढ़ता, छाया-वट सुविशाल,
स्थविरता, नीरव सायंकाल,

वही विस्मय का शिशु नादान
रूप पर मँडरा, बन गुञ्जार;
प्रणय से बिंध, बँध चुन चुन सार
मधुर जीवन का मधु कर पान।
साध अपना मधुमय-संसार
डुबा देता निज तन, मन, प्राण।

एक बचपन ही में अनजान,
जागते, सोते, हम दिन-रात

वृद्ध-बालक फिर एक प्रभात,
देखता नव्य-स्वप्न अज्ञात,
मूँद प्रचीन-मरन,
खोल नूतन-जीवन !

(२९)

विश्वमय हे परिवर्तन;
अतल में से उमड़ अकूल, अपार,
मेघ-से विपुलाकार,
दिशावधि में पल विविध प्रकार
अतल में मिलते तुम अविकार !

अहे अनिर्वचनीय ! रूप धर भव्य, भयङ्कर,
इन्द्रजाल-सा तुम अनन्त में रचते सुन्दर,
गरज, गरज, हँस-हँस, चढ़, गिर, छाढा, भू-अम्बर,
करते जगती को अजस्र-जीवन से उर्वर;
अखिल विश्व की आशाओं का इन्द्र चाप-वर,
अहे तुम्हारी भीम-भृकुटि पर, अटका निर्भर !

(३०)

एक औ, बहु के बीच अजान,
घूमते तुम नित चक्र समान।
जगत के उर में छोड़ महान,
गहन-चिन्हों में ज्ञान !

परिवर्तित कर अगणित नूतन दृश्य निरन्तर,
अभिनय करते विश्व-मंच पर तुम मायाकार !
जहाँ हास के अधर अश्रु के नयन करुणतर,
पाठ सीखते संकेतों में प्रकट, अगोचर;
शिक्षास्थल यह विश्व-मंच तुम नायक नटवर !

प्रकृति नर्त्तकी सुघर,
अखिल में व्याप्त सूत्रधर

(३१)

हमारे निज सुख दुख निःश्वास,
तुम्हें केवल परिहास;
तुम्हरी ही विधि पर विश्वास
हमारा चिर-आश्वास !

ऐ अनन्त हृत्कम्प ! तुम्हारा अविरत स्पन्दन
सृष्टि-शिराओं में संचारित करता जीवन;
खोल जगत के शत शत नक्षत्रों से लोचन,
भेदन करते अन्धकार तुम जग का क्षण-क्षण,
सत्य तुम्हारी राजयष्टि, सन्मुख नत त्रिभुवन
भूप, अकिंचन,
अटल-शासित नित करते पालन !

(३२)

तुम्हारा ही अशेष व्यापार,
हमारा भ्रम, मिथ्याहङ्कार,
तुम्हीं में निराकार साकार
मृत्यु-जीवन सब एकाकार !

अहे महाम्बुधि ! लहरों-से शत लोक, चराचर,
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर;
तुङ्ग तरङ्गों से शतयुग, शत शत कल्पान्तर,
उगल, महोदर में बिलीन करते तुम सत्वर;
शत सहस्र-रवि-शशि, असंख्य ग्रह, उपग्रह उडगण,
जलते, बुझते हैं स्फुलिङ्ग से तुम में तत्क्षण;

सुमित्रानन्दन पन्त

अचिर विश्व में अखिल दिशावधि, कर्म, वचन ,मन
तुम्हीं चिरन्तन
अहे विवर्तन—हीन विवर्तन !

गुञ्जन—(सुख-दुख)

मैं नहीं चाहता चिर-सुख,
मैं नहीं चाहता चिर-दुख;
सुख-दुख की खेल मिचौनी;
खोले जीवन अपना मुख।

सुख-दुख के मधुर मिलन से,
यह जीवन हो परिपूरण;
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।

जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव-जग में बँट जावें,
दुख-सुख से औ सुख दुख से।

अविरत दुख है उत्पीड़न,
अविरल सुख भी उत्पीड़न;
दुख सुख की निशा दिवा में,
सोता-जगता जग-जीवन ॥

यह साँझ उषा का आँगन,
आलिंगन विरह-मिलन का;
चिर हास-अश्रुमय आनन,
रे—इस मानव-जीवन का।

सावधान

सूचना :—इस पुस्तक का मूल्य २।।) है। कृपया इससे अधिक दें। इससे पूर्व सन् १६५२ व सन् १६५४ संस्करण किन्हीं महाशय ने अनधिकृत रूप से छा लिया है जिसमें अशुद्धियों की भरमार है तथा गैरक़ानूनी है। उस पुराने जाली संस्करण को बेचने वा को पकड़वा कर १००) का इनाम लें। इसका खरीद व बेचना जुर्म है। इस संस्करण में पाठ विशेष रूप शुद्ध कर दिये गये हैं व विविध कवियों के चित्र दे दिये गये हैं। कृपया देख कर लें। —प्रक

३